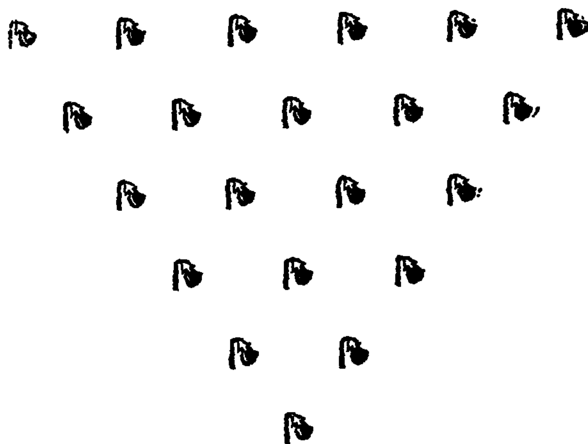
प्रकाशक—
नाथूराम प्रेमी,
हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,
हीराबाग, पो० गिरगांव बम्बई ।



मुद्रक—
मंगेश नारायण कुळकर्णी,
कर्नाटक प्रेस,
नं० ४३४, ठाकुरद्वार, बम्बई ।

ग्रन्थ-परिचय ।



इस संग्रहमें चार ग्रन्थ प्रकाशित किये जाते हैं—१ प्राकृत भावसंग्रह, २ संस्कृत भावसंग्रह, ३ भाव-त्रिभङ्गी और ४ आस्रव-त्रिभङ्गी । इन चारोंके सम्बन्धमें हम जो कुछ बातें जान सके हैं, वे संक्षेपमें नीचे दी जाती हैं:—

१–भाव-संग्रह ।

इसके कर्त्ता श्रीविमलसेन गणधर (गणी) के शिष्य आचार्य देवसेन हैं और वे संभवतः नयचक्र और दर्शनसार आदिके कर्त्तासे अभिन्न हैं । नयचक्रकी भूमिकामें हम इनके विषयमें विस्तारपूर्वक लिख चुके हैं । विक्रम संवत् ९९० में उन्होंने दर्शनसारकी रचना की थी, अतएव ये विक्रमकी दसवीं शताब्दिके विद्वान् हैं । अब तक इनके बनाये हुए दर्शनसार, तत्त्वसार, आराधनासार, नयचक्र और यह भावसंग्रह इस तरह पाँच ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं* । ये पाँचों प्राकृतमें हैं । ज्ञानसार और धर्मसंग्रह आदि और भी कई ग्रन्थ आपके बनाये हुए सुने जाते हैं; परन्तु अभी तक उपलब्ध नहीं हुए हैं । इनकी खोज होनी चाहिए ।

दो हस्तलिखित प्रतियोंके आधारसे इस ग्रन्थका संशोधन कराया गया है। इनमेंसे पहली कसंज्ञक प्रति जयपुरस्थ पाटोदी-मन्दिरके सरस्वती-भंडारसे पं० इन्द्रलालजी शास्त्रीद्वारा प्राप्त हुई और दूसरी खसंज्ञक प्रति पूनेके 'भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट'से+ । पहली प्रति 'ज्येष्ठ सुदी १२ शुक्र संवत् १५५८' की लिखी हुई है और बहुत ही शुद्ध है। दूसरी प्रति ग्रन्थ लिखानेवालेकी एक विस्तृत प्रशस्तिसे युक्त है और बहुत ही अशुद्ध है। प्रशस्तिसे मालूम होता है कि यह प्रति वि० संवत् १६२७ में खण्डेलवाल जातिके एक गोधागोत्रवाले कुटुम्बकी ओरसे 'अष्टाह्निकव्रतके उद्याप-

* इनमेंसे 'आराधनासार' माणिकचन्द्-ग्रन्थमालाका छठा और 'नयचक्र' सोलहवाँ ग्रन्थ है । तत्त्वसार तेरहवें 'तत्त्वानुशासनादि-संग्रह' के अन्तर्गत है । 'दर्शनसार' जैनग्रन्थरत्नाकरकार्यालय द्वारा प्रकाशित हुआ है ।

+ नं० १४६३, सन् १८८६–९२ ।

नार्थं' लिखवाई जाकर सोम नामक ब्रह्मचारीको दान की गई थी। जयपुर राज्यके मोजावाद नामक स्थानमें यह ग्रंथ लिखा गया था। प्रशस्तिकी नकल दी जाती है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इसकी संस्कृत बहुत ही अशुद्ध है:—

"इति भावसंग्रहः समाप्तः। श्लोकसंख्या ९६०। सम्पूर्ण। संवतु १६२७ वर्षे फाल्गुन वादि ५ स्वातिनक्षत्रे बुधवारे श्री आदि-जिनचैत्यालये मोजावादिस्थाने राजश्रीमानसिंघकुछाहराज्ये श्री-मूलसंघे नंद्यामनाये वलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्रीकुंदकुंद आचार्यान्वये भट्टारकश्रीपद्मनंदिदेवा तत्पट्टे भट्टारकश्रीशुभचंद्र-देवा तत्पट्टे भट्टारकश्रीजिनचंद्रदेवा तत्पट्टे भट्टारकश्रीप्रभाचंद्र-देवा तत्सिक्ष मंडलाचार्यश्रीधर्मचंद्रदेवा तत्सिक्ष मंडलाचार्यश्री-ललतकीर्ति तत्सिक्षमंडलाचार्य चंद्रकीर्तिदेवा तदामनाये षंडेल-वालान्वये गोधागोत्रे सा. ठाकुर तत्भार्या लाछी तत्पुत्र चत्वारि प्रथ. तेजा दु. केल्हा ति. बैराज चु. रेषा। तेजाभार्या चागुल दु. लक्ष्मी पु. हठु। केल्हा केलवदे पुत्र नरयण दु. नरवद त्रि. गोपाल चु. सारग। बैराज पैसरि पु. हेमा। सा. वोहिथ भार्या वहरगदे तत पुत्र देवसी एतेषां इदं सास्त्रं भावसंगहं लिषायतं धनार्थी अष्टाह्लकव्रत उद्यपनार्थं ब्र. सोमाय दत्तं।"

यह प्रति पहली प्रतिकी अपेक्षा विलक्षण है। इसके प्रारंभिक अंशमें अन्य ग्रन्थोंके उद्धरणोंकी भरमार है। पहले हमारा खयाल था कि मूलग्रन्थकर्त्ताने ही ये उद्धरण संग्रह किये होंगे; परन्तु विचार करनेसे मालूम हुआ कि नहीं, ग्रन्थ-कर्त्ताके बहुत बाद, किसी विद्वान लिपिकारने ही यह परिश्रम किया है। क्योंकि इसमें पं० वामदेवकृत संस्कृत भावसंग्रह तकके कई श्लोक * उद्धृत किये गये हैं और पं० वामदेव जैसा कि आगे बतलाया जायगा—विक्रमकी १६ वीं शताब्दिके विद्वान् हैं। इसी तरह यशस्तिलक चम्पूके भी अनेक पद्य 'उक्तंच' रूपमें दिये गये हैं और यशस्तिलक वि० सं० १०१६ में समाप्त हुआ है।

---

* देखिए प्राकृत भावसंग्रहके पृष्ठ २४ की टिप्पणी और संस्कृत भावसंग्रहके १६९-७०-७१ नम्बरके श्लोक।

२-भाव-संग्रह (संस्कृत)।

इसके कर्त्ता पं० वामदेव हैं। ग्रन्थप्रशस्तिसे मालूम होता है कि ये मूलसंघी आचार्य लक्ष्मीचन्द्रके शिष्य थे और नैगम नामक कुलमें उत्पन्न हुए थे। निगम कायस्थ जातिका एक भेद है। आश्चर्य नहीं जो पं० वामदेवजी कायस्थ ही हों। दिगम्बरसम्प्रदायमें महाकवि हरिचन्द्र, दयासुन्दर, आदि और भी अनेक विद्वान् कायस्थजातीय हो चुके हैं।

लक्ष्मीचन्द्र नामके अनेक आचार्य हो चुके हैं। उनमेंसे पं० वामदेवके गुरु त्रैलोक्यकीर्तिके शिष्य और विनयचन्द्रके प्रशिष्य थे। ग्रन्थमें उसकी रचनाका समय नहीं लिखा है, इस लिए पं० वामदेवका निश्चित समय तो नहीं बतलाया जा सकता है; परन्तु अनुमानतः वे विक्रमकी पन्द्रहवीं या सोलहवीं शताब्दिके विद्वान् जान पड़ते हैं। उन्होंने एक जगह (पृ० १९६ में) 'उक्तंच जिनसंहितायां' लिख कर एक श्लोकार्ध उद्धृत किया है। मालूम नहीं, यह कौनसी जिनसंहिता है। यदि भट्टारक एकसन्धिकी जिनसंहिता है—जिसका रचनाकाल विक्रमकी चौदहवीं शताब्दि है—तो यह स्पष्ट है कि भावसंग्रह इसके पीछे किसी समय बना है।

स्व० बाबा दुलीचन्दजीकी संस्कृत-ग्रन्थसूचीमें प० वामदेवजीके बनाये हुए प्रतिष्ठासूक्तसंग्रह, तत्त्वार्थसार, त्रिलोकदीपिका, श्रुतज्ञानोद्यापन, त्रिलोकसारपूजा और मन्दिरसंस्कारपूजा नामक छः ग्रन्थोंके नाम दिये हैं। यदि इन ग्रन्थोंमेंसे एक दो ग्रन्थ ही मिल जावेंगे तो ग्रन्थकर्ताका समय बहुत कुछ निर्णीत हो जायगा।

यह भावसंग्रह प्रायः प्राकृत भावसंग्रहका ही संस्कृत अनुवाद है। दोनों ग्रन्थोंको आमने सामने रखकर पढ़नेसे यह बात अच्छी तरह समझमें आ जाती है। यद्यपि पं० वामदेवजीने इसमें जगह जगह अनेक परिवर्तन, परिवर्धन और संशोधन आदि किये हैं; फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि यह स्वतंत्र ग्रन्थ है। शिष्टताकी दृष्टिसे अच्छा होता, यदि पं० वामदेवजीने अपने ग्रन्थमें यह बात स्वीकार कर ली होती।

इस ग्रन्थका संशोधन दो प्रतियोंके अधारसे किया गया है, जिसमेंसे एक तो चोपाटीके स्वर्गीय सेठ माणिकचन्दजीके सरस्वतीभण्डारमें है—जो

कमसे कम ३०० वर्ष पहलेकी लिखी हुई होगी* और दूसरी पं० उदयलालजी काशलीवालके पास है और जिसे पं० अमोलकचन्दजी उड़ेसरीयने वि० सं० १९६४में महासभाके सरस्वतीभंडारकी किसी प्राचीन प्रतिपरसे लिखा था। इसमेंसे पहली प्रति प्रायः शुद्ध है।

३–भाव-त्रिभङ्गी और ४–आस्रव-त्रिभङ्गि।

इन दोनों ही ग्रन्थोंके कर्त्ता एक आचार्य हैं और उनका नाम श्रुतमुनि है। पिछले ग्रन्थकी अन्तिम गाथामें ग्रन्थकारने कामदेवके प्रभावको नष्ट करनेवाले और शिष्यजनोंद्वारा पूजित बालचन्द्र मुनिका 'जयकार' किया है। इससे मालूम होता है कि बालचन्द्र उनके पूज्य पुरुषोंमें थे। परन्तु वे कौन थे, इसका निश्चय इन मुद्रित ग्रन्थोंसे नहीं हो सकता। तलाश करनेसे सुहृद्वर बाबू जुगलकिशोरजी मुख्तारसे मालूम हुआ कि आराके जैनसिद्धान्तभवनमें भावत्रिभंगीकी एक ताड़पत्रपर लिखी हुई प्राचीन प्रति है और उसमें आगे लिखी हुई सात गाथायें इस मुद्रित प्रतिसे अधिक हैं।† इन गाथाओंसे यह तो निश्चित हो ही जाता है कि पूर्वोक्त बालचन्द्र मुनि श्रुतमुनिके अणुव्रतदीक्षागुरु थे, साथ ही और भी कई विद्वानोंका इनमें उल्लेख है जिनसे ग्रन्थकर्त्ताके समयनिर्णयमें बहुत कुछ सहायता मिलती है। वे गाथायें ये हैं:—

"अणुवद्गुरुबालेंदु महव्वदे अभयचंदसिद्धंति।
सत्थेऽभयसूरि पहाचंदा खलु सुयमुणिस्स गुरू॥ ११७॥

---

* इस प्रतिके अन्तमें लिखा है—"आ०श्रीललीतचंद्र तत सीस्य ब्र० कीका॥ छ॥ ब्र० शिवदास तत्सिस्य पं० वीरभाणपठनार्थं।" ऊपर जो प्राकृत भावसंग्रहकी लेखक-प्रशस्ति दी है वह सं० १६२७ की लिखी हुई है और उस समय ललितचन्द्रके शिस्य चन्द्रकीर्ति वर्तमान थे। अर्थात् पूर्वोक्त प्रतिसे २५–३० वर्ष बाद यह प्रति लिखी गई होगी और इसी लिए हम इसे लगभग ३०० वर्ष पहलेकी समझते हैं।

† चौपाटीके स्वर्गीयसेठ माणिकचन्दजीके सरस्वतीभण्डारके 'प्रशस्तिसंग्रह' नामक राजिस्टरमें 'भावत्रिभंगी' की दो प्रतियोंके नोट लिये हुए हैं, परन्तु उनमें भी इन प्रशस्तिकी गाथाओंका अभाव है। लेखकोंकी कृपासे सैकड़ों ग्रन्थोंकी प्रशस्तियाँ इसी तरह लुप्तप्राय हो चुकी हैं।

सिरिमूलसंघदेसिय पुत्थयगच्छ कोंडकुंदमुणिणाहं (?)
परमण्ण इंगलेसर्वलम्मि जादमुणिपहद (हाण) स्स॥ ११८॥
सिद्धंताहयचंदस्स य सिस्सो बालचंदमुणिपवरो।
सो भवियकुवलयाणं आणंदकरो सया जयऊ॥ ११९॥
सद्दागम-परमागम-तक्कागम-निरवसेसवेदी हु।
विजिदसयलण्णवादी जयउ चिरं अभयसूरिसिद्धंति॥१२०॥
णयणिक्खेवपमाणं जाणित्ता विजिदसयलपरसमओ।
वरणिवइणिवहवंदियपयपम्मो चारुकित्तिमुणी॥ १२१॥
णादणिखिलत्थसत्थो सयलणरिंदेहिं पूजिओ विमलो।
जिणमग्गगमणसूरो जयउ चिरं चारुकित्तिमुणी॥ १२२॥
वरसारत्तयणिउणो सुद्दं परओ विरहियपरभाओ।
भवियाणं पडिवोहणपरो पहाचंद णाम मुणी॥ १२३॥
इति भावसंग्रहः समाप्तः।"

इन गाथाओंसे नीचे लिखे हुए आचार्योंका पता लगता है:—

१—**बालचन्द्रमुनि**। इन्होंने श्रुतमुनिको श्रावककी दीक्षा दी थी। आस्रवत्रिभंगीमें भी श्रुतमुनिने इनका स्मरण किया है।

२—**अभयचन्द्र**। ये मूलसंघ, देशीय गण, पुस्तकगच्छ और कुन्दकुन्दाम्नायके आचार्य थे और इंगलेश[1] नामक स्थानके मुनियोंमें प्रधान थे। ये व्याकरण, धर्मशास्त्र और न्यायशास्त्र आदि अशेष विषयोंके ज्ञाता थे और सारे अन्य वादियोंको इन्होंने जीता था। बालचन्द्र मुनि इनके शिष्य थे। श्रुतमुनिने इनसे मुनिदीक्षा ली थी और शास्त्राध्ययन भी किया था।

३—**प्रभाचन्द्र**। ये सारत्रय अर्थात् समयसार, पंचास्तिकाय और प्रवचनसारके ज्ञाता थे, परभावोंसे रहित थे और भव्य जनोंको प्रतिबोधित करनेवाले

---

१ कर्नाटक प्रान्तमें जैनोंका यह कोई बहुत ही प्रसिद्ध स्थान है। यहाँपर अनेक आचार्य और विद्वान् हो गये हैं, अनेक आचार्योंकी निषद्यायें बनी हुई हैं, भट्टारकोंकी एक गद्दी रही है और संभवतः बाहुबलिकी भी कोई मूर्ति है। श्रवणबेल्गोलके १०८ वें लेखमें लिखा है:—

नन्दिसंघे स देशीयगणे गच्छेऽच्छपुस्तके।
इङ्गुलेशबलि र्जीयान्मंगलीकृतभूतलः॥ २२॥

थे । श्रुतमुनिके ये भी विद्यागुरु थे, अर्थात् इनसे भी उन्होंने शास्त्राध्ययन किया था ।

४—चारुकीर्ति । ये नय, निक्षेप और प्रमाणके ज्ञाता, सारे परधर्मोंको जीतनेवाले, बड़े बड़े राजाओंद्वारा पूजित, सारे शास्त्रोंके जाननेवाले और जिन-मार्गपर वीरतासे चलनेवाले थे ।

कर्नाटककविचरितके कर्ताने श्रुतमुनिके गुरु बालचन्द्रका समय वि० सं० १३३० के लगभग बतलाया है। उनका कथन है कि बालचन्द्र मुनिने शक संवत् ११९५ (वि० सं० १३३०) में द्रव्यसंग्रहकी एक टीका लिखी है और उसमें उन्होंने अपने गुरुका नाम अभयचन्द्र लिखा है । इससे सिद्ध हुआ कि श्रुतमुनि विक्रमकी चौदहवीं शताब्दिके विद्वान् हैं और वि० सं० १३३० के लगभग उनका अस्तित्व था ।

' चारुकीर्ति ' यह श्रवणबेल्गोलके भट्टारकोंका स्थायी नाम है । अर्थात् वहाँके पट्ट पर जितने आचार्य होते हैं वे सब चारुकीर्ति पण्डिताचार्य कहे जाते हैं। कर्नाटककविचरितके कर्ताके मतसे श्रवणबेल्गोलके जैनगुरुओंने यह नाम वि० सं० ११७४ के बाद धारण किया है । तब पूर्वोक्त प्रशस्तिकी गाथाओंमें जिन चारुकीर्तिकी प्रशंसा की है वे दूसरे या तीसरे चारुकीर्ति होंगे ।

आचार्य प्रभाचन्द्रको ' सारत्रयनिपुण ' विशेषण दिया गया है और हमारी संग्रहकी हुई ग्रन्थसूचीमें नाटकसमयसार आदि तीनों ग्रन्थोंकी प्रभाचन्द्रकृत टीकाओंके नाम लिखे हुए हैं । अतः ये सारत्रयनिपुण और उक्त टीकाकार एक ही होंगे ।

श्रवणबेल्गोलमें श्रुतमुनिकी निषद्यापर मंगराज कविका ७५ पद्योंका एक विशाल संस्कृत शिलालेख है । शकसंवत् १३५५ (वि० सं० १४९०) में उक्त निषद्या प्रतिष्ठित हुई है । उसमें प्रधानतः श्रुतकीर्ति, चारुकीर्ति, योगिराट् पण्डिताचार्य और श्रुतमुनिकी महिमा वर्णन की गई है । कविने श्रुतमुनिकी प्रशंसाके तो पुल बाँध दिये हैं । वे बड़े भारी विद्वान् थे और उन्होंने समाधिपूर्वक स्वर्गवास किया था । यदि निषद्याकी प्रतिष्ठाका समय ही उनके स्वर्गवासका समय है, तब तो कहना होगा कि ये श्रुतमुनि भावत्रिभंगीके कर्तासे कोई जुदा ही हैं और उनसे पीछे हुए हैं; परन्तु यदि स्वर्गवासके १००–१२५ वर्ष बाद निषद्यापर

उक्त शिलालेख लिखवाया गया है, तो वह निषद्या और प्रशंसा इन्हींकी हो सकती है।

भाव-त्रिभंगीका दूसरा नाम 'भावसंग्रह' भी है। अनेक प्रतियोंमें 'भाव-संग्रह' नाम ही लिखा है। भाव-त्रिभंगी और आस्रव-त्रिभंगी ये दोनों ग्रन्थ बम्बईके तेरहपंथी मन्दिरकी एक जीर्ण प्रति परसे-जिसमें लिखनेके संवत् आदिका अभाव है—छपाये गये हैं। प्रति प्रायः शुद्ध है।

इस संग्रहके तीनों प्राकृतग्रन्थोंकी संस्कृतच्छाया पं० पन्नालालजी सोनीने की है। मूल प्रतियोंमें छायाका अभाव था।

जिन जिन पुस्तकालयों या सरस्वतीभण्डारोंकी प्रतियोंसे इन ग्रन्थोंके प्रकाशित करनेमें सहायता मिली है, उनके अधिकारियोंके प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता प्रकाश करते हैं और आशा करते हैं कि उनसे आगे भी हमें इसी प्रकार सहायता मिलती रहेगी।

बम्बई,
आश्विन सुदी १५
वि० सं० १९७८ वि०।

निवेदक—
नाथूराम प्रेमी।



ग्रन्थ-सूची ।



माणिकचन्द्र-दिगम्बर-जैन-ग्रन्थमालायां प्रकाशितग्रन्थानां

सूची ।



१	लघीयस्त्रयादिसंग्रहः (लघीयस्त्रयतात्पर्यवृत्तिः, स्वरूपसम्बोधनं, लघुसर्वज्ञसिद्धिः, बृहत्सर्वज्ञसिद्धिः)	।≈)
२	सागारधर्मामृतं सटीकं	।≋)
३	विक्रान्तकौरवं नाटकं	।≈)
४	श्रीपार्श्वनाथचरितं	॥)
५	मैथिलीकल्याणं नाटकं	।)
६	आराधनासारः सटीकः	।)॥
७	जिनदत्त-चरितं	।॥)
८	प्रद्युम्नचरितं	॥)
९	चारित्रसारः	।≈)
१०	प्रमाणनिर्णयः	।–)
११	आचारसारः	।≈)
१२	त्रैलोक्यसारः सटीकः	१॥)
१३	तत्वानुशासनादिसंग्रहः (तत्वानुशासनं, इष्टोपदेशः सटीकः, नीतिसारः, मोक्षपंचाशिका, श्रुतावतारः, अध्यात्मतरंगिणी, पात्रकेसरिस्तोत्रं सटीकं, अध्यात्माष्टकं, द्वात्रिंशतिका, वैराग्यमणिमाला, तत्वसारः, श्रुतस्कन्धः, ढाढसीगाथा, ज्ञानसारः)	।॥≈)
१४	अनगारधर्मामृतं सटीकं	३॥)
१५	युक्त्यनुशासनं सटीकं	।॥–)
१६	नयचक्रसंग्रहः (लघुनयचक्रं, द्रव्यस्वभावप्रकाशक–नयचक्रं, आलापपद्धतिः)	।॥≋)

नीतिवाक्यामृत सटीक, सिद्धान्तसारादिसंग्रह और रत्नकरण्डटीका ये तीन ग्रन्थ छप रहे हैं।





नमः सिद्धेभ्यः ।

भावसंग्रहादिः ।

श्रीदेवसेनसूरिविरचितो

भावसंग्रहः ।

पणविय सुरसेणणुयं मुणिगणहरवंदियं महावीरं ।
वोच्छामि भावसंगहमिणमो भव्वप्पबोहट्ठं ॥ १ ॥

प्रणम्य सुरसनतुतं मुनिगणधरवन्दितं महावीरम् ।
वक्ष्ये भावसंग्रहमेतं भव्यप्रबोधनार्थम् ॥

जीवस्स होंति[1] भावा जीवा पुण दुविहभेयसंजुत्ता ।
मुत्ता पुण संसारी मुत्ता सिद्धा णिरवलेवा ॥ २ ॥

जीवस्य भवन्ति भावा जीवाः पुनर्द्विविधभेदसंयुक्ताः ।
मुक्ताः पुनः संसारिणो मुक्ताः सिद्धा निरवलेपाः ॥

लोयग्गसिहरवासी केवलणाणेण मुणियतई[3]लोया ।
असरीरा गइरहिया सुणिच्चला सुद्धभावट्ठा ॥ ३ ॥

---

१ हुंति ख । २ रु. ख । ३ य. ख ।

लोकाग्रशिखरवासिनः केवलज्ञानेन मुनितत्रिलोकाः ।
अशरीरा गतिरहिताः मुनिश्चलाः शुद्धभावस्थाः ॥

जे संसारी जीवा चउगइपज्जायपरिणया णिच्चं ।
ते परिणा[1]मे गिण्हहि सुहा[2]सुहे कम्मसंगहणे ॥ ४ ॥

ये संसारिणो जीवाश्चतुर्गतिपर्यायपरिणता नित्यम् ।
ते परिणामान् गृह्णन्ति शुभाशुभान् कर्मसंग्रहणे ॥

भावेण कुणइ पावं पु[3]ण्णं भावेण तह य मु[4]क्खं वा ।
इयमंतर णाऊणं जं सेयं तं समायरहं[5] ॥ ५ ॥

भावेन करोति पापं पुण्यं भावेन तथा च मोक्षं वा ।
इत्यन्तरं ज्ञात्वा यच्छ्रेयस्तं समाश्रय ॥

से[6]तु सुद्धो भावो तस्सुवलंभो य होइ गुणठाणे ।
पणदहपमायरहिए सयल वि चारित्तजुत्तस्स ॥ ६ ॥

सेव्यः शुद्धो भावः तस्योपलम्भश्च भवति गुणस्थाने ।
पंचदशपमादरहिते सकलस्यापि चारित्रयुक्तस्य ॥

सेसा जे वे भा[7]वा सुहासुहा पुण्णपावसंजणया ।
ते पंचभावमिस्सा होंति गुणट्ठाणमासेज्ज ॥ ७ ॥

शेषौ यौ द्वौ भावौ शुभाशुभौ पुण्यपापसंजनकौ ।
तौ पंचभावमिश्रौ भवतो गुणस्थानमाश्रित्य ॥

---

१ मं. ख । २ हं. ख । ३ पुन्नं ख । ४ मो. ख । ५ अस्मादग्रे उक्तं चेति दत्वा ख–पुस्तके गाथेयं वर्तते—

जीववहअलियचोरियमेहुणपरिग्गहेहिं रहिओ वि ।
परिणामपरिग्गहिओ तंदुलमच्छो गओ नरयं ॥ १ ॥

जीववधालीकचोरीमैथुनपरिग्रहै रहितोऽपि
परिणामपरिगृहीतः तन्दुलमत्स्यो गतो नरकं ॥

६ सेवो. ख । ७ भावे क ।

अउदइउ परिणामिउ खयउवसमिउ तहा उवसमो खइओ।
एए पंच पहाणा भावा जीवाण होंति जियलोए॥ ८॥

औदयिकः पारिणामिकः क्षायोपशमिकस्तथौपशमिकः क्षायिकः।
एते पंच प्रधाना भावा जीवानां भवन्ति जीवलोके॥

ते चिय[1] पज्जायगया चउदहगुणठाणणामया भणिया।
लहिऊण उदय उवसम खयउवसम खउ[2] हु कम्मस्स॥९॥

ते एव पर्यायगताश्चतुर्दशगुणस्थाननामका भणिताः।
लब्ध्वा उदयमुपशमं क्षयोपशमं क्षयं हि कर्मणः॥

मिच्छा सासण मिस्सो अविरियसम्मो य देसविरदो य।
विरओ पमत्त इयरो अपुव्व अणियट्टि सुहमो य॥ १०॥

मिथ्यात्वं सासादनं मिश्रं अविरतसम्यक्त्वं च देशविरतं च।
विरतं प्रमत्तं इतरदपूर्वमनिवृत्ति सूक्ष्मं च।

उवसंतखीणमोहे सजोइकेवलिजिणो अजोगी य[3]।
ए चउदस गुणठाणा कमेण सिद्धा[4] य णायव्वा[5]॥ ११॥

---

१ णइ चेअ चिअ च्च एवार्थे। २ य. ख। ३ अजोईओ. ख। ४ सिद्धा मुणे- यव्वा ख। ५ अस्मादग्रे व्याख्येयं गाथासूत्रद्वयस्य ख–पुस्तके—

अस्य चतुर्दशगुणस्थानस्य विवरणा क्रियते, मिच्छा–मिथ्यात्वगुणस्थानं १। सासण-सासादनगुणस्थानं २। मिस्सो–मिश्रगुणस्थानं ३। अविरियसम्मो–अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानं, तत्कथं? सम्यक्त्वमस्ति व्रतं नास्ति ४। देसविरओ य–विरताविरत इत्यर्थः, तत्कथं? स्थावरप्रवृत्तिस्त्रसनिवृत्तिरित्यर्थः, एकदेशविरत-श्रावकगुणस्थानं ५। विरया पमत्त इति कोऽर्थः यतित्वे सत्यपि आ समन्तात् पंचदशप्रमादसहित इत्यर्थ इति गुणस्थानं षष्ठं ६। इयरो–अप्रमत्तः पंचदशप्रमाद-रहितो महान् यतिरित्यर्थ इति सप्तगुणस्थानं ७। अपुव्व-अपूर्वकरणनामगुण-स्थानं ८। अणियट्टि–अनिवृत्तिनामगुणस्थानं तस्मिन् गुणस्थाने व्यार्णवनाऽस्ति

उपशान्तक्षीणमोहे सयोगकेवलिजिनोऽयोगी च ।
एतानि चतुर्दशगुणस्थानानि क्रमेण सिद्धाश्च ज्ञातव्याः ॥

मिच्छत्तस्सुदएण य जीवे संभवइ उदइओ भावो ।
तेण य मिच्छादिट्ठीठाणं पावेइ सो तइया ॥ १२ ॥

मिथ्यात्वस्योदयेन च जीवे संभवति औदयिको भावः ।
तेन च मिथ्यादृष्टिस्थानं प्राप्नोति स तत्र ॥

मिच्छत्तरसपउत्तो जीवो विवरीयदंसणो होइ ।
ण मुणइ हियं[1] च अहियं पित्तज्जुरजुओ[2] जहा पुरिसो ॥१३॥

मिथ्यात्वरसप्रयुक्तो जीवो विपरीतदर्शनो भवति ।
न जानाति हितं चाहितं पित्तज्वरयुक्तो यथा पुरुषः ॥

कडुवं[3] मण्णइ[4] महुरं महुरं पि य तं भणेइ अइकडुयं ।
तह मिच्छत्तपउत्तो उत्तमधम्मं ण रोचेइ ॥ १४ ॥

कटुकं मन्यते मधुरं मधुरमपि च तद्भणति कटुकं ।
तथा मिथ्यात्वप्रवृत्तः उत्तमधर्मं न रोचते ॥

जह कणयं[5]मज्जकोद्दवमहुरा[6]मोहेण मोहिओ संतो ।
ण मुणइ कज्जाकज्जं मिच्छादिट्ठी तहा जीवो ॥ १५ ॥

इत्यर्थः ९ । सुहमो य–सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानं १० । उवसंत–उपशान्तनाम-गुणस्थानं ११ । खीणमोहो–क्षीणकपायनामगुणस्थानं १२ । सयोगकेवलिजिणो –समवशरणादिविभूतिसहितसयोगिकेवलनामगुणस्थानं १३ । अयोगी य–समव-शरणादिविभूतिरहितायोगिकेवलिनामगुणस्थानं १४ । इति चतुर्दशगुणस्थानानि ।

१ हेयाहेयं ख । २ पित्तजुरसंजुओ ख । ३ यं. ख । ४ यं. ख । ५ धत्तुरकं । ६ इ. ख ।

यथा कनकमद्यकोद्रवमधुरमोहेन मोहितः सन् ।
न जानाति कार्याकार्यं मिथ्यादृष्टिस्तथा जीवः ॥

तं पि हु पंचपयारं वियरो एयंतविणयसंजुत्तं ।
संसयअण्णाणगयं विवरीओ होइ पुण बंभो[1] ॥ १६ ॥

तदपि हि पंचप्रकारं विपरीतं एकान्तविनयसंयुक्तं ।
संशयाज्ञानगतं विपरीतो भवति पुनः ब्राह्मणः ॥

एवं वदते ब्राह्मणः—

मण्णइ जलेण सुद्धिं तित्तिं मंसेण पियरवग्गस्स[2] ।
पसु[3]कयवहेण सग्गं धम्मं गोजोणिफासेण ॥ १७ ॥

---

१ अस्या अधः पाठोऽयं वर्तते प्रथमपुस्तके—

सप्त मिथ्यात्वाः । विपरीतमिथ्यादृष्टिब्राह्मणाः १ । एकान्तबौद्धः २ । वैनयिकस्तापसः ३ । संशयश्वेताम्बरः ४ । अज्ञानतुरुष्कः ५ । जीव-अभावचार्वाकः ६ । जीवोऽस्ति पुनर्जीवेन कृतं यत्पुण्यपापादिकं तत्फलं जीवो न भुंक्ते, परन्तु प्रकृतिस्तद्भुंते नान्यत् सांख्यः । द्वितीयपुस्तके तु उभयस्थानेऽयं पाठः—

तं पुण सत्तपयारं विवरीयं एयंत विणयसंजुत्तं ।
संसयअण्णाणगयं चव्वकं तहेव संखं च ॥ १ ॥

तत्पुनः सप्तप्रकारं विपरीतं एकान्तविनयसंयुक्तं ।
संशयाज्ञानगतं चार्वाकं तथैव सांख्यं च ॥

विवरीओ होइ पुण बंभो । सप्तधा मिथ्यात्वं, तत्कथं? विपरीतमिथ्यादृष्टिर्ब्राह्मणः, एकान्तमिथ्यादृष्टिर्बौद्धः, विनयादेव मोक्ष इति वैनयिकमिथ्यादृष्टिस्तापसः, संशयमिथ्यादृष्टिः श्वेताम्बरः, अज्ञानादेव मोक्ष इति अज्ञानमिथ्यादृष्टिस्तुरुष्कः, जीवाभावमिथ्यादृष्टिश्चार्वाकः । जीवोऽस्ति जीवेन कृतं यत्पुण्यपापादिकं तत्फलं जीवो न भुंक्ते परं तु प्रकृतितत्वं तु भुंक्ते नान्यत् एवं मिथ्यादृष्टिवादी सांख्यः इति सप्त मिथ्यात्वं । तत्र तावद्विपरीतमिथ्यादृष्टिर्ब्राह्मणः कथ्यते, तत्कथं ?—

२ वग्गाणं ख । ३ पशूनां वधेनेत्यर्थः ।

मन्यते जलेन शुद्धिं तृप्तिं मांसेन पितृवर्गस्य ।
पशुकृतवधेन स्वर्गं धर्मं गोयोनिस्पर्शनेन ॥

जइ जलण्हाणपउत्ता जीवा मुच्चेइ णियय पावेण ।
तो तत्थ वसिय जलयरा सव्वे पावंति दिवलोयं ॥१८॥

यदि जलस्नानप्रवृत्ता जीवा मुच्यन्ते निजपापेन ।
तर्हि तत्र वसन्तो जलचराः सर्वे प्राप्नुवन्ति दिवलोकं॥

जं कम्मं दिढवद्धं जीवपएसेहि तिविहजोएण ।
तं जलफासणिमित्ते कह फट्टइ तित्थण्हाणेण ॥ १९ ॥

यत्कर्म दृढवद्धं जीवप्रदेशैस्त्रिविधयोगेन ।
तज्जलस्पर्शनिमित्ते कथं स्फुटति तीर्थस्नानेन ॥

उक्तं च गीतायां—

अत्यन्तमालिनो देहो देही चात्यन्तनिर्मलः ।
उभयोरन्तरं दृष्ट्वा कस्य शौच विधीयते ॥ १ ॥

मलिणो देहो णिच्चं देही पुण णिम्मलो सयारूवी ।
को इह जलेण सुज्झइ तम्हा ण्हाणे ण हु सुद्धी ॥ २० ॥

मलिनो देहो नित्यं देही पुनः निर्मलः सदारूपी ।
क इह जलेन शुद्ध्यति तस्मात्स्नाने न हि शुद्धिः ॥

उक्तं च—

आत्मा नदी संयमतोयपूर्णा सत्यावहा शीलतटा दयोर्मिः ।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र! न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा ॥१॥

---

१ ओ ख। २ उक्तं च गीतायां मध्ये ख। ३ अस्मादग्रे इमे श्लोकाः समुपलभ्यन्ते—ख पुस्तके।

चित्तमन्तर्गतं दुष्टं तीर्थस्नानैर्न शुद्ध्यति ।
शतशोऽपि जलैर्धौतं मद्यभांडमिवाशुचि ॥ १ ॥

अरण्ये निर्जले देशेऽशुचित्वाद्ब्राह्मणो मृतः ।
वेदवेदाङ्गतत्वज्ञः कां गतिं स गमिष्यति ॥ २ ॥

यद्यसौ नरकं याति वेदाः सर्वे निरर्थकाः ।
अथ स्वर्गमवाप्नोति जलशौचं निरर्थकं ॥ ३ ॥

सुज्झइ जीवो तवसा इंदियखलणिग्गहेण परमेण ।
रयणत्तयसंजुत्तो जह कणयं अग्गिजोएण ॥ २१ ॥

शुद्ध्यति जीवस्तपसा इन्द्रियखलनिग्रहेन परमेण ।
रत्नत्रयसंयुक्तो यथा कनकं अग्नियोगेन ॥

ण्हाणाओ चिय सुद्धिं जीवा इच्छंति जे जडत्तेण ।
भमिहिंति ते वराया चउरासीजोणिलक्खाइं ॥ २२ ॥

स्नानादेव शुद्धिं जीवा इच्छन्ति ये जडत्वेन ।
भ्रमिष्यन्ति ते वराकाश्चतुरशीतियोनिलक्षाणि ॥

जे तियरमणासत्ता विसयपमत्ता कसायरसविसिया ।
ण्हंता वि ते ण सुद्धा गिहवावारेसु वट्टंता ॥ २३ ॥

कामरागमदोन्मत्ताः स्त्रीणां ये वशवर्तिनः ।
न ते जलेन शुद्ध्यन्ति स्नात्वा तीर्थशतैरपि ॥ २ ॥

गंगातोयेन सर्वेण मृद्भारैः पर्वतोपमैः ।
आम्लैरप्यचरन् शौचं भावदुष्टो न शुद्ध्यति ॥ ३ ॥

मनो विशुद्धं पुरुषस्य तीर्थं वाचां यमश्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः ।
एतानि तीर्थानि शरीरजानि मोक्षस्य मार्गं प्रतिदर्शयन्ति ॥ ४ ॥

इति गीतायां श्लोकाः ।

ये स्त्रीरमणासक्ता विषयप्रमत्ता कषायरसवशिताः ।
स्नान्त अपि ते न शुद्धा गृहव्यापारेषु वर्तमानाः ॥

सव्वस्सेण[1] ण तित्ता मायापउरा य जायणासीला ।
किं कुणइ तेसु ण्हाणं अब्भंतरगहियपावाणं ॥ २४ ॥

सर्ववस्तुना न तृप्ता मायाप्रचुराश्च याचनाशीलाः ।
किं करोति तेषां स्नानमभ्यन्तरगृहीतपापानां ॥

वयणियमसीलजुत्ता णिहयकसाया दयावरा जइणो ।
ण्हाणरहिया वि पुरिसा बंभंचारी[2] सया सुद्धा ॥ २५ ॥

व्रतनियमशीलयुक्ता निहतकषाया दयापरा यतयः ।
स्नानरहिता अपि पुरुषा ब्रह्मचारिणः सदा शुद्धाः ॥

स्नानदूषणम्[3] ।

मंसेण पियरवग्गो पीणिज्जइ एरिसी सुई जेसिं ।
तेहिमसेसं गोत्तं हणिऊण य भक्खियं णियमा ॥ २६ ॥

मांसेन पितृवर्गः तृप्यते ईदृशी श्रुतिर्येषां ।
तैरशेषं गोत्रं हत्वा च भक्षितं नियमात् ॥

जे कयकम्मपउत्ता सुयणा हिंडंति चउगईघोरे ।
संसारे गिण्हंता संबंधा सयलजीवेहिं ॥ २७ ॥

ये कृतकर्मप्रयुक्ताः स्वजना हिण्डन्ते चतुर्गतिघोरे ।
संसारे गृह्णन्तः सम्बन्धान् सकलजीवैः ॥

---

१ सर्ववस्तु दानेन न तृप्ता इत्यर्थः । २ सुबंभयारी ख । ३ जलस्नानदूषणं ख ।

तिरियगई उववण्णा संपत्ता मच्छयाइ जे जम्मं ।
हणिऊण अवरपक्खे[1] तेसिं मंसेहिं विविहेहिं ॥ २८ ॥

तिर्यग्गतावुत्पन्नाः सम्प्राप्ता मत्स्यादि ये जन्म ।
हत्वा अपरपक्षे तेषां मांसैर्विविधैः ॥

कुणइ सराहं कोई[2] पियरे संसारतारणत्थेण ।
सो तेसिं मंसाणि य तेसिं णामेण खावेइ ॥ २९ ॥

करोति श्राद्धं कश्चित्पितुः संसारतारणार्थेन ।
स तेषां मांसानि च तेषां नाम्ना खादयति ॥

वंकेण जह सताओ हरिणो हणिऊण तण्णिमित्तेण[3] ।
पइऊण सोत्तियाणं दिण्णो खद्धो सयं चेव ॥ ३० ॥

बकेन यथा स्वतातो हरिणो हत्वा तन्निमित्तेन ।
प्रीणयित्वा श्रोत्रियेभ्यो दत्तः भक्षितः स्वयं चैव ॥

मंसासिणो ण पत्तं मंसं ण हु होइ उत्तमं दाणं ।
कह सो तिप्पइ पियरो परमुहगसियाइं भुंजंतो ॥ ३१ ॥

मांसाशिनो न पात्रं मांसं न हि भवति उत्तमं दानं ।
कथं स तृप्यति पिता परमुखग्रसितानि भुंजानः ॥

अण्णम्मि भुंजमाणे अण्णो जइ धाइ एत्थ पच्चक्खं ।
तो सग्गम्मि वसंता पियरा तित्तिं खु पावंति[4] ॥ ३२ ॥

अन्यस्मिन् भुञ्जानेऽन्यो यदि तृप्यत्यत्र प्रत्यक्षं ।
ततः स्वर्गे वसन्तः पितरस्तृप्तिं खलु प्राप्नुवन्ति ॥

---

१ श्राद्धपक्षे । २ केइ ख । ३ तच्छ्राद्धनिमित्तेन । ४ पावंता क ।

जइ पुत्तदिण्णदाणे पियरा तिप्पंति चउगइ गया वि ।
तो जण्णहोमण्हाणं जवतववेयाइं अकियत्था ॥ ३३ ॥

यदि पुत्रदत्तदानेन पितरः तृप्यन्ति चतुर्गतिं गता अपि ।
तर्हि यज्ञहोमस्नानं जपतपोवेदादयः अकृतार्थाः ॥

कयपावो णरय गओ णिज्जइ पुत्तेण पियरु सग्गम्मि[1] ।
पिंडं दाऊण फुडं ण्हाइ[2] य तित्थाइं भणि[3]ऊण ॥ ३४ ॥

कृतपापो नरके गतो नीयते पुत्रेण पिता स्वर्गे ।
पिंडं दत्त्वा स्फुटं स्नाति च तीर्थानि भणित्वा ॥

जइ एवं तो पियरो सग्गं पत्तो वि जाइ णिरयम्मि ।
पुत्तेण कए दोसे बंभहच्चाइगरुएण ॥ ३५ ॥

यद्येवं तर्हि पिता स्वर्गं प्राप्तोऽपि जायते नरके ।
पुत्रेण कृतेन दोषेण ब्रह्महत्यादिगुरुकेन ॥

अ[4]ण्णकए गुणदोसे अण्णो जइ जाइ सग्गणरयम्मि ।
जो कुणइ पुण्णपावं तस्स फलं सो ण वेएइ ॥ ३६ ॥

अन्यकृताभ्यां गुणदोषाभ्यामन्यो यदि याति स्वर्गनरके ।
यः करोति पुण्यपापं तस्य फलं स न वेदयति ॥

ण हु वेयइ तस्स फलं कत्ता पुरिसो हु पुण्णपावस्स ।
जइ तो कह ते सिद्धा भूय[5]ग्गामा हु चत्तारि ॥ ३७ ॥

न हि वेदयति तस्य फलं कर्ता पुरुषः हि पुण्यपापस्य ।
यदि तर्हि कथं ते सिद्धा भूतग्रामा हि चत्वारः ॥

---

१ स्स क । २ ण्हायइ ख । ३ मि ख । ४ अस्य स्थाने पुण्ण इति पाठः क-पुस्तके । ५ देवमनुष्यादयः ।

जो कुणइ[1] पुण्णपावं सो चिय भुंजेइ णत्थि संदेहो ।
सग्गं वा णरयं वा अप्पाणो णेइ अप्पाणं ॥ ३८ ॥

य: करोति पुण्यपापं स एव भुनाक्ति नास्ति सन्देहः ।
स्वर्गं वा नरकं वा आत्मना नयति आत्मानं ॥

एवं भणंति केई जलथलगिरिसिहरअग्गिकुहरेसु ।
चउविहभूयग्गामे वसइ हरी णत्थि संदेहो ॥ ३९ ॥

एवं भणन्ति केचिज्जलस्थलगिरिशिखराग्निकुहरेषु ।
चतुर्विधभूतग्रामे वसति हरिर्नास्ति सन्देहः ॥

उक्तं च—

जले विष्णुः स्थले विष्णुर्विष्णुः पर्वतमस्तके ।
ज्वालमालाकुले विष्णुः सर्वं विष्णुमयं जगत् ॥ १ ॥

सव्वगओ जइ विण्हू णिवसइ देहम्हि सव्वदेहीणं ।
तो रुक्खाइहएण सो णिहओ होइ णियमेण ॥ ४० ॥

सर्वगतो यदि विष्णुः निवसति देहे सर्वदेहिनां ।
तर्हि वृक्षादिहतेन स निहतो भवति नियमेन ॥

उक्तं च—

मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः ।
रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्की च ते दश ॥ १ ॥
मत्स्यः कूर्मो वराहश्च विष्णुः सम्पूज्य भक्तितः ।
मत्स्यादीनां कथं मांसं भक्षितुं कल्प्यते बुधैः ॥ २ ॥

---

१ यं. ख । २ अस्मादग्रे इमौ श्लोकौ समुपलभ्येते ख–पस्तके—(अग्रतनपङ्क्ते)

किडिकुम्ममच्छरूवं पडिमं काऊण विण्हु भणिऊण ।
अचेयणम्मि पुज्जइ गंधक्खयधूवदीवेहिं ॥ ४१ ॥

किटिकूर्ममत्स्यरूपां प्रतिमां कृत्वा विष्णुं भणित्वा ।
अचेतने पूजयति गन्धाक्षतधूपदीपैः ॥

जो पुण चेयणवंतो विण्हू पच्चक्ख मच्छकिडिरूवो ।
सो हणिऊण य खद्धो दिण्णो पियराण पावेहिं ॥ ४२ ॥

यः पुनः चैतन्यवान् विष्णुः प्रत्यक्षं मत्स्यकिटिरूपः ।
स हत्वा च भक्षितो दत्तः पितृभ्यः पापैः ॥

जइ देवो हणिऊणं मंसं गसिऊण गम्मए सग्गं ।
तो णरयं गंतव्वं अवरेणिह केण पावेण ॥ ४३ ॥

यदि देवं हत्वा मांसं ग्रसित्वा गच्छति स्वर्गं ।
तर्हि नरकं गन्तव्यं अपरेणेह केन पापेन ॥

हणिऊण पोढछेलं गम्मइ सग्गस्स एस वेयत्थो ।
तो सूणारा सव्वे सग्गं णियमेण गच्छंति ॥ ४४ ॥

अल्पायुषो दरिद्राश्च नीचकर्मोपजीविनः ।
दुष्कुलेषु प्रसूयन्ते ये नरा मांसभोजिनः ॥ १ ॥
योत्ति मनुष्यो मांसं निर्दयचेताः स्वदेहपुष्ट्यर्थम् ।
याति स नरकं सततं हिंसाप्रवृत्तचित्तत्वात् ॥ २ ॥

१ खाऊण ख । २ अस्मादग्रे, मांसेन पितृवर्गदूषणमिति. ख–पुस्तके पाठः । समाप्तमित्यर्थः । ३ हंतूण ख । ४ अत्र हि द्वितीयास्थाने षष्ठी "क्वचिदसादेः" इत्यनेन, स्वर्गायेति वा छाया । ५ जीववधकाः चांडालादयः । ६ इतोऽग्रे–त्रय इमे श्लोकाः वर्तन्ते ख–पुस्तके—

हत्वा प्रौढच्छागं गच्छति स्वर्गं एष वेदार्थः ।
तर्हि सूनकाराः सर्वे स्वर्गं नियमेन गच्छन्ति ॥

सव्वगओ जइ विण्हू छागसरीरम्मि किं ण सो अत्थि ।
जं णित्ताणो वहिओ चडप्फडंतो णिरुस्सासो ॥ ४५ ॥

सर्वगतो यदि विष्णुः छागादिशरीरे किं न सोऽस्ति ।
यद् निस्त्राणः हतः तल्प्यमानो निःश्वासः ॥

अण्णं इयं[1] णिसुणिज्जइ सत्थे हरिबंभरुद्दभत्ताण ।
सव्वेसु जीवरासिसु अंगे[2] देवा हु णिवसंति ॥ ४६ ॥

अन्यदिति निश्रूयते शास्त्रे हरिब्रह्मरुद्रभक्तानां ।
सर्वेषां जीवराशिनां अंगे देवा हि निवसन्ति ॥

उक्तं च—

नाभिस्थाने वसेद्ब्रह्मा विष्णुः कण्ठे समाश्रितः ।
तालुमध्ये स्थितो रुद्रो ललाटे च महेश्वरः ॥ १ ॥
नासाग्रे च शिवं विद्यात्तस्यांते च परोपरः ।
परात्परतरं नास्ति इति शास्त्रस्य निश्चयः ॥ २ ॥

अन्ये चैवं वदन्त्येके यज्ञार्थं यो निहन्यते ।
तस्य मांसाशिनः सोऽपि सर्वे यान्ति सुरालयं ॥ १ ॥
तत्किं न क्रियते यज्ञः शास्त्रज्ञैस्तस्य निश्चयात् ।
पुत्रबध्वादिभिः सर्वे प्रगच्छन्ति दिवं यथा ॥ २ ॥
नाहं स्वर्गफलोपभोगतृषितो नाभ्यर्थितस्त्वं मया
सन्तुष्टस्तृणभक्षणेन सततं हंतु न युक्तं तव ।
स्वर्गं यान्ति यदि त्वया विनिहता यज्ञे ध्रुवं प्राणिनो
यज्ञं किं न करोषि मातृपितृभिः पुत्रैस्तथा बान्धवैः ॥ ३ ॥

पूर्वे द्वे पद्ये संस्कृतभावसंग्रहस्य । अन्त्यं चैकं यशस्तिलकचम्प्वाः ।

१ इ ख । २ सव्वे ख ।

सव्वासु जीवरासिसु एए णिवसंति पंचठाणेसु ।
जइ तो किं पसुवहणे ण मारिया होंति ते सव्वे ॥ ४७ ॥
सर्वासु जीवराशिषु एते निवसन्ति पंचस्थानेषु ।
यदि तर्हि किं पशुवधेन न मारिता भवन्ति ते सर्वे ॥

देवे वहिऊण गुणा लब्भहि जइ इत्थ उत्तमा केई ।
तु रुक्खवंदणया अवरे पारद्धिया सव्वे ॥ ४८ ॥
देवान् वद्ध्वा गुणान् लभन्ते यद्यत्रोत्तमाः केचित् ।
तर्हि वृक्षवन्दनया? अपरे पारधिकाः सर्वे ॥

उक्तं च—

न हि हिंसाकृते धर्मः सारम्भे नास्ति मोक्षता ।
स्त्रीसम्पर्के कुतः शौचं मांसभक्षे कुतो दया ॥ १ ॥
तिलसर्षपमात्रं वा यो मांसं भक्षयेद्द्विजः ।
स नरकान्न निवर्तेत यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥ २ ॥
आकाशगामिनो विप्राः पतिता मांसभक्षणात् ।
विप्राणां पतनं दृष्ट्वा तस्मान्मांसं न भक्षयेत् ॥ ३ ॥
आगोपालादि यत्सिद्धं धान्यं मांसं पृथक् पृथक् ॥
मांसमानय इत्युक्ते न कश्चिद्धान्यमानयेत् ॥ ४ ॥
स्थावरा जंगमाश्चैव द्विधा जीवाः प्रकीर्तिताः ।
जंगमेषु भवेन्मांसं फलं तु स्थावरेषु च ॥ ५ ॥
मांसं तु इंद्रियं पूर्णं सप्तधातुसमन्वितं ।
यो नरो भक्षते मांसं स भ्रमेत्सागरान्तकम् ॥ ६ ॥

मांसदूषणं ।

वंदइ गोजोणि सया तुंडं परिहरइ भणिवि अपवित्तं ।
विवरीयाभिणिवेसो एसो फुडु होइ मिच्छो वि ॥ ४९ ॥

१ व्वे ख । २ ख-पुस्तके त्वस्य स्थाने एवं पाठान्तरं—(पुरोवर्तिपृष्ठे)

वन्दते गोयोनिं सदा तुंडं परिहरति भणित्वाऽपवित्रं ।
विपरीताभिनिवेश एष स्फुटं भवति मिथ्यात्वमपि ॥

पावेण तिरियजम्मे उववण्णा तिणयरी पसू गावी ।
अविवेया विट्ठासी सा कह देवत्तणं पत्ता ॥ ५० ॥

पापेन तिर्यग्जन्मनि उत्पन्ना तृणचारिणी पशुः गौः ।
अविवेकिनी विष्ठाशिनी सा कथं देवत्वं प्राप्ता ॥

अहवा एसो धम्मो विट्ठं भक्खंतया वि णमणीया ।
तो किं वज्झइ दुज्झइ ताडिज्जइ दीहदंडेण ॥ ५१ ॥

उक्तं च—

न हि हिंसाकृते धर्मः सारम्भे नास्ति मोक्षता ।
स्त्रीसम्पर्के कुतः शौचं मांसभक्षे कुतो दया ॥ १ ॥
संस्कर्ता चोपहर्ता च पा (खा) दकश्चैव घातकः ।
उपदेष्टाऽनुमंता च षडेते समभागिनः ॥ २ ॥
मांसाशनातिशक्ते क्रूरनरे नैव तिष्ठते सुदया ।
निर्दयमनसि न धर्मो धर्मविहीने च नैव सुखिता स्यात् ॥ ३ ॥
तिलसर्षपमात्रं तु यो मांसं भक्षयेद्द्विजः ।
स नरकान्न निवर्तेत यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥ ४ ॥
आकाशगामिनो विप्राः पतिता मांसभक्षणात् ।
विप्राणां पतनं दृष्ट्वा तस्मान्मांसं न भक्षयेत् ॥ ५ ॥
न कर्दमे भवेन्मांसं न काष्ठेषु तृणेषु च ।
जीवशरीराद्भवेन्मांसं तस्मान्मांसं न भक्षयेत् ॥ ६ ॥
सर्वं शुक्रं भवेद्ब्रह्मा विष्णुर्मांसं प्रवर्तते ।
ईश्वरोऽप्यस्ति संघाते तस्मान्मांसं न भक्षयेत् ॥ ७ ॥

अथ वाक्यमाह—

यद्यन्मांसं तत्तत्सर्वं जीवशरीरमेव स्यात् । एवशब्दो निर्द्धारणार्थः । यद्यज्जीवशरीरं तत्सर्वं मांसं भवतीति नियमाभावः, कुतः वृक्षादौ व्यभिचारात् । वृक्षादीनां जीवशरीरत्वे सत्यपि मांसाभावात् ।

अथवैष धर्मो विष्टां भक्षयन्त्यपि नमनीया ।
तर्हि किं वध्यते दुह्यते ताड्यते दीर्घदण्डेन ॥

अन्यच्च—

मांसं जीवशरीरं जीवशरीरं भवेन्न वा मांसं ।
यद्वन्निम्बो वृक्षो वृक्षस्तु भवेन्न वा निम्बः ॥ ८ ॥

आम्रादौ व्यभिचारात् ।

कश्चिदाहेति यत्सर्वं धान्यपुष्पफलादिकं ।
मांसात्मकं न तत्किं स्याज्जीवाङ्गत्वप्रसंगतः ॥ ९ ॥

तदयुक्तमित्याह—

जीवत्वेन हि तुल्या वै यद्यप्येते भवन्तु ते ।
स्त्रीत्वे सति यथा माता अभक्ष्यं यंगमं तथा ? ॥ १० ॥
यद्वद्गरुडः पक्षी पक्षी न तु एव सर्वगरुडोऽस्ति ।
रामैव चास्ति माता माता न तु सार्विका रामा ॥ ११ ॥
शुद्धं दुग्धं न गोमांसं वस्तुवैचित्र्यमीदृशं ।
विषघ्नं रत्नमाहेयं विषं च विपदे मतः ॥ १२ ॥
हेयं पलं पयः पेयं समे सत्यपि कारणे ।
विषद्रोरायुषे पत्रं मूलं तु मृतये स्मृतं ॥ १३ ॥
पंचगव्यं तु तैरिष्टं गोमांसे संपयः कृतः ।
तत्पित्तजाऽप्युपादेया प्रतिष्ठादिषु रोचना ॥ १४ ॥
इति हेतोर्न वक्तव्यं सादृश्यं मांसधान्ययोः ।
मांसं निन्द्यं न धान्यं स्यात् प्रसिद्धेयं श्रुतिर्जनैः ॥ १५ ॥
आगोपालादि यत्सिद्धं धान्यं मांसं पृथक् पृथक् ।
धान्यमानयमित्युक्ते न कश्चिन्मांसमानयेत् ॥ १६ ॥
ब्राह्मणादिभिः धान्यमासं एकं जइ भणियं—(?)
स्थावरा जंगमाश्चैव द्विधा जीवाः प्रकीर्तिताः ।
जंगमेषु भवेन्मांसं फलं तु स्थावरेषु च ॥ १७ ॥
मांसमिन्द्रियसम्पूर्णं सप्तधातुसमाश्रितं ।
यो नरो भक्षयेन्मांसं स भ्रमेत्सागरान्तकम् ॥ १८ ॥

१ जम्मा ख । २ पिट्टिञ्जइ ख ।

सुरही लोयस्सग्गे वक्खाणइ एस देवि पच्चक्खा ।
सव्वे देवा अंगे इमिएं[1] णिवसंति णियमेण ॥ ५२ ॥

सुरभिः लोकस्याग्रे कथ्यते एषा देवी प्रत्यक्षा ।
सर्वे देवा अंगे अस्या निवसन्ति नियमेन ॥

पुणरवि गोसवजण्णे मंसं भक्खंति सा वि मारित्ता ।
तस्सेव वहेणं[2] फुडं ण मारिया होंति ते देवा ॥ ५३ ॥

पुनरपि गवोत्सवयज्ञे मांसं भक्षयन्ति तामपि मारयित्वा ।
तस्या एव वधेन स्फुटं न मारिता भवन्ति ते देवाः ॥

सोत्तिय गव्वुव्वुढा मंसं भक्खंति रमहि[3] महिलाओ ।
अपवित्ताइं असुद्धा देहच्छिद्दाइं[4] वंदंति ॥ ५४ ॥

श्रोत्रिया गर्वोत्कटा मांसं भक्षयन्ति रमन्ते महिलाः ।
अपवित्राणि अशुद्धानि देहच्छिद्राणि वन्दन्ते ॥

सो सोत्तिओ भणिज्जइ णारीकडिसोत्त[5] वज्जिओ जेण ।
जो तु रमणासत्तो ण सोत्तियो सो जडो होई ॥ ५५ ॥

स श्रोत्रियो भण्यते नारीकटिस्रोतो वर्जितं येन ।
यस्तु रमणासक्तो न श्रोत्रियः स जडो भवति ॥

अहवा पसिद्धवयणं सोत्तं णारीण सेवए जेण ।
मुत्तप्पवहणदारं सोत्तियओ तेण सो उत्तो ॥ ५६ ॥

अथवा प्रसिद्धवचनं स्रोतो नारीणां सेव्यते येन ।
मूत्रप्रवाहद्वारं श्रोत्रियः तेन स उक्तः ॥

इय विवरीयं उत्तं मिच्छत्तं पावकारणं विसमं ।
तेण पउत्तो जीवो णरयगई जाइ णियमेण ॥ ५७ ॥

१ इमाइ ख । सप्तम्यामुभयमेव साधु । २ वहणेण ख, वहएण क । ३ रमंति । ४ गोयोनीः । ५ सोतु ख, सुतु. क । कटिस्रोतः-योनिच्छिद्रं ।

इति विपरीतं उक्तं मिथ्यात्वं पापकारणं विषमं।
तेन प्रयुक्तो जीवो नरकगतिं याति नियमेन ॥

अवि सहइ तत्थ दुक्खं सक्करपहपमुहणरयविवरेसु।
कह सो सग्गं पावइ णिहय पसू खद्धपलगासो ॥ ५८ ॥

अपि सहते तत्र दुःखं शर्कराप्रमुखनरकविवरेषु।
कथं स स्वर्गं प्राप्नोति निहत्य पशून् खादितपलग्रासः ॥

जइ कहवं तत्थ णिग्गइ उप्पज्जइ पुणु वि तिरियजोणीसु।
मारियइ सोत्तिएहिं णित्ताणो पुण वि जण्णम्मि ॥ ५९ ॥

यदि कथमपि ततो निर्गच्छति उत्पद्यते पुनरपि तिर्यग्योनिषु।
मार्यते श्रोत्रियैः निस्त्राणः पुनरपि यज्ञे ॥

णियभासाए जंपइ मेमेंतो कहइ आसि मे रइयं।
एवं वेयविहाणं संपत्तो दुग्गई तेण ॥ ६० ॥

निजभाषायां जल्पति मे मे कथयति आसीत् मया रचितं।
एवं वेदविधानेन संप्राप्ता दुर्गतिः तेन ॥

इय विलवंतो हम्मइ गलयं मुहनासरंध रुंधित्ता।
भक्खियइ सोत्तियेहिं विहिणा बहुवेयवंतेहिं ॥ ६१ ॥

१ प्रमुखशब्देन रत्नप्रभावालुकाप्रभादयो गृह्यन्ते। २ क-ख-पुस्तकद्वयेऽपि इति पाठः। ३ रक्षारहितः। ४ न्न ख। ५ छागादीनां भाषा। ६ "मि मइ ममाइ मए मे ङिटा इत्यनेन अस्मच्छब्दस्य स्थाने टावचनेन सह मे इत्यादेशः। ७ अस्मादग्रे ईदृक्पाठो निरछायः ख-पुस्तके। विवरीयमिच्छत्तसम्मत्तं। अथ दर्शनसाराद्गाथा-युग्मं—

सुव्वयतित्थे उज्झो खीरकदंबुत्ति सुद्धसम्मत्तो।
सीसो तस्स य दुट्ठो पुत्तो वि य पव्वओ वक्को ॥ १ ॥
विवरीयमयं किच्चा विणासियं सच्चसंजमं लोए।
तत्तो पत्ता सव्वे सत्तमणरयं महाघोरं ॥ २ ॥

इति विलपन् हन्यते गलन्मुखनासिकारन्ध्रं रुद्ध्वा ।
भक्ष्यते श्रोत्रियैः विधिना बहुवेदवद्भिः ॥

इय विवरीयं कहियं मिच्छत्तं पावकारणं विसमं ।
जो परिहरइ मणुस्सो सो पावइ उत्तमं ठाणं ॥ ६२ ॥

इति विपरीतं कथितं मिथ्यात्वं पापकारणं विषमं ।
यः परिहरति मनुष्यः स प्राप्नोति उत्तमं स्थानं ॥

इति विपरीतमिथ्यात्वं प्रथमं ।

एयंतमिच्छदिट्ठी बुद्धो एयंतणयसमालंवी ।
एयंतें खणियत्तं मण्णइ जं लोयमज्झम्मि ॥ ६३ ॥

एकान्तमिथ्यादृष्टिर्बुद्ध एकान्तनयसमालम्बी ।
एकान्तेन क्षणिकत्वं मन्यते यल्लोकमध्ये ॥

जइ खणियत्तो जीवो तरिहि भवे कस्स कम्मसंबंधो ।
संबंध विणा ण घडइ देहग्गहणं पुणो तस्स ॥ ६४ ॥

यदि क्षणिको जीवस्तर्हि भवेत् कस्य कर्मसम्बन्धः ।
सम्बन्धं विना न घटते देहग्रहणं पुनः तस्य ॥

तवयरणं वयधरणं चीवरगहणं च सीसमुंडणयं ।
सत्तहंडियासु[2] भिक्खा खणियत्ते णेव संभवइ ॥ ६५ ॥

सुव्रततीर्थे जातः क्षीरकदम्ब इति शुद्धसम्यक्त्वः ।
शिष्यस्तस्य च दुष्टः पुत्रोऽपि च पर्वतो वक्रः ॥
विपरीतमतं कृत्वा विनाशितं सर्वसंयमं लोके ।
ततः प्राप्ताः सर्वे सप्तमनरकं महाघोरं ॥

१ अस्य स्थाने विवरीयमिच्छत्तं इति ख-पुस्तके, विवरीयमिच्छत्तं सम्मत्तं इति क-पुस्तके-पाठः । २ सत्तहघडियासु ख ।

तपश्चरणं व्रतधारणं चीवरग्रहणं च शिरोमुण्डनं ।
सप्तहटिकासु भिक्षा क्षणिककल्पे नैवसम्भवति ॥

णाणं जइ खणभंसी कह सो वालत्तवत्तसियं मुणइ ।
तह वाहिरगओ संतो कह आवइ पुण वि णियगेहं ॥ ६६ ॥
ज्ञानं यदि क्षणध्वंसि कथं तत् बालत्वव्यवसितं जानाति ।
तथा बहिर्गतः सन् कथमागच्छति पुनरपि निजगृहं ॥

जइ चेयणा अणिच्चा तो किं चिरजायवाहि संभरइ ।
वइराइ वि मित्ताइ वि कह जाणइ दिट्ठमित्ताइं ॥ ६७ ॥
यदि चेतना अनित्या तर्हि कथं चिरजातव्याधि स्मरति ।
वैरिणः अपि मित्राण्यपि कथं जानाति दृष्टमात्रेण ॥

पत्तेपडियं ण दूसइ खाइ पलं पियइ मज्जु णिल्लज्जो ।
इच्छइ सग्गग्गमणं मोक्खग्गमणं च पावेण ॥ ६८ ॥
पात्रपतितं न दूषयति खादयति पलं पिबति मद्यं निर्लज्जः ।
इच्छति स्वर्गगमनं मोक्षगमनं च पापेन ॥

असिऊण मंसगासं मज्जं पविऊण गम्मए सग्गं ।
जई एवं तो सुंडय पारद्धिय चेव गच्छंति ॥ ६९ ॥
अशित्वा मांसग्रासं मद्यं पीत्वा गम्यते स्वर्गे ।
यद्येवं तर्हि शौण्डाः पारर्द्धिकाश्चैव गच्छन्ति ॥

इय एयंतविणडीओ बुद्धो ण मुणेइ वत्थुसब्भावं ।
अण्णाणी कयपावो सो दुग्गइ जाइ णियमेण ॥ ७० ॥
इति एकान्तविनटितो बुद्धो न मनुते वस्तुस्वभावं ।
अज्ञानी कृतपापः स दुर्गतिं याति नियमेन ॥

---

१ वलत्तियं ख । २ पात्रे यत्पतितं भक्ष्यमभक्ष्यं च । ३ ग स । ४ जइ तो सुंडय सव्वे ख । यदि तर्हि शौण्डाः सर्वे । ५ कलवाराः ।

णिच्चाणिच्चं दव्वं सव्वं इह अत्थि लोयमज्झम्मि ।
पज्जाएण अणिच्चं णिच्चं फुडु होइ दव्वेण ॥ ७१ ॥

नित्यमनित्यं द्रव्यं सर्वमिहास्ति लोकमध्ये ।
पर्यायेणानित्यं नित्यं स्फुटं भवति द्रव्येण ॥

इय एयंतं कहियं मिच्छत्तं गरुयपावसंजणयं ।
एत्तो उड्ढं वोच्छं वेणइयं णाम मिच्छत्तं ॥ ७२ ॥

इति एकान्तं कथितं मिथ्यात्वं गुरुकपापसंजनकं ।
इत ऊर्ध्वं वक्ष्ये वैनयिकं नाम मिथ्यात्वं ॥

इत्येकान्तमिथ्यात्वं द्वितीयं ।

१अस्मादग्रे एवंविधः पाठो निश्छायः ख–पुस्तके । अथ–दर्शनसाराद्गाथा–पंचकं–
सिरिपासणाहतित्थे सरयूतीरे पलासनयरत्थे ।
पिहियासवस्स सीसो महासुओ बुद्धकित्तिमुणी ॥ १ ॥
तिमिपूरणासणेण हि अगहियपव्वज्जओ परिब्भट्ठो ।
रत्तंवरं धरित्ता पवड्ढियं तेण एयंतं ॥ २ ॥
मंसस्स णत्थि जीवो जह फले दुद्धदहियसक्करए ।
तम्हा तं वंछित्तो तं भक्खंतो ण पाविट्ठो ॥ ३ ॥
मज्जं ण वज्जणिज्जं दवदव्वं जह जलं तहा एदं ।
इय लोए घोसित्ता पवट्टियं सव्वसावज्जं ॥ ४ ॥
अण्णो करेइ कम्मं अण्णो तं भुंजईह सिद्धंतं ।
परिकप्पिऊण णूणं वसिकिच्चा णिरयमुववण्णो ॥ ५ ॥
श्रीपार्श्वनाथतीर्थे सरयूतीरे पलाशनगरस्थे ।
पिहितास्रवस्य शिष्यो महाश्रुतो वुद्धकीर्तिमुनिः ।
तिमिपूरणाशनेन हि अगृहीतप्रव्रज्यः परिभ्रष्टः ।
रक्ताम्बरं धृत्वा प्रवर्धितं तेनैकान्तं ।
मांसस्य नास्ति जीवो यथा फले दुग्धदधिशर्करासु ।
तस्मात्तद्वाञ्छिन् तद्भक्षयन् न पापिष्ठः

वेणइयमिच्छदिट्ठी हवइ फुडं तावसो हु अण्णाणी ।
णिग्गुणजणम्मि विणओ पउंजमाणो हु गयविवेओ ॥७३॥

वैनयिकमिथ्यादृष्टिः भवति स्फुटं तापसो ह्यज्ञानी ।
निर्गुणजने विनयं प्रयुञ्जमानो हि गतविवेकः ॥

विणयादो इह मोक्खं किज्जइ पुणु तेण गद्दहाईणं ।
अमुणियगुणागुणेण य विणयं मिच्छत्तणडियेण ॥ ७४ ॥

विनयत इह मोक्षः क्रियते पुनस्तेन गर्दभादीनां ।
अमुनितगुणागुणेन च विनयः मिथ्यात्वनटेन ॥

जक्खयणायाईणं दुग्गाखंधाइअण्णदेवाणं ।
जो णवइ धम्महेउं जो वि य हेउं च सो मिच्छो ॥ ७५ ॥

यक्षनागादीन् दुर्गास्कन्धाद्यन्यदेवान् ।
यो नमति धर्महेतोः योऽपि च हेतुश्च स मिथ्यात्वं ॥

पुत्तत्थमाउसत्थं कुणइ जणो देविचंडियाविणयं ।
मारइ छेलयसत्थं पुज्जेइ कुलाइं मज्जेण ॥ ७६ ॥

मद्यं न वर्जनीयं द्रवद्रव्यं यथा जलं तथैतत् ।
इति लोके घोषयित्वा प्रवर्तितं सर्वसावद्यं
अन्यः करोति कर्म अन्यः भुनक्तीति सिद्धान्तं ।
परिकल्प्य नूनं वशीकृत्य नरकमुपपन्नः

२ एयंतमिच्छतं पुस्तके पाठः ।

१ होइ ख । २ मूढेन । ३ योग्यायोग्यकमाहते इत्यर्थः । ४ पुज्जइ कउलाइ मज्जेण ख । पूज्यते कौलानि मद्येन । कौलानि कुलदेवानित्यर्थः ।

पुत्रार्थमायुष्यार्थं करोति जनो देवीचाण्डिकाविनयं ।
मारयति छागसार्थं पूज्यते कुलानि मद्येन ॥

ण वि होइ तत्थ पुण्णं किज्जंति[1] णिंकिट्ठरुद्दसब्भावा[2] ।
ण य पुत्ताइं दाउं सक्का ते सत्तिहीणा जे[3] ॥ ७७ ॥

नापि भवति तत्र पुण्यं कुर्वन्ति निकृष्टरुद्रस्वभावान् ।
न च पुत्रादि दातुं शक्यास्ते शक्तिहीना ये ॥

जइ ते होंति समत्था कत्थ गया पंडवाइया पुरिसा ।
कत्थ गया चक्केसा हलहरणारयणा कत्थ ॥ ७८ ॥

यदि ते भवन्ति समर्थाः कुत्र गताः पाण्डवाद्याः पुरुषाः ।
कुत्र गताश्चक्रेशा हलधरनारायणाः कुत्र ॥

जइ देवय देइ सुयं तो किं रुद्देणं[4] सेविया गउरी ।
दिव्वं वरिससहस्सं पुत्तत्थं तारयभएण ॥ ७९ ॥

यदि देवो ददाति सुतं तर्हि किं रुद्रेण सेविता गौरी ।
दिव्यं वर्षसहस्रं पुत्रार्थं तारकभयेन ॥

तह्मा सयमेव सुओ हवेइ मिहुणाण रइपउत्ताणं ।
अण्णाण मूढलोओ वाहिज्जइ धुत्तमणुएहिं ॥ ८० ॥

तस्मात्स्वयमेव सुतो भवेत् मिथुनानां रतिप्रवृत्तानां ।
अज्ञानो मूढलोको बाध्यते धूर्तमनुष्यैः ॥

संते आउसि जीवइ मरणं गलियम्मि णत्थि संदेहो ।
ण व रक्खइ को वि तहिं संतं[5] सोसेइ ण हु कोई ॥ ८१ ॥

सति आयुषि जीवति मरणं गलिते नास्ति सन्देहः ।
न च रक्षति कोऽपि तस्मात् सत् शोषयति न हि कश्चित् ॥

---

१ ते ख। २ नि ख। ३ ओ ख। ४ रुद्दाण क। ५ आयुष्यं। संते ख।

जइ सव्वदेवयाओ[1] मणुयं[2] रक्खंति पुज्जियाओ य ।
तो किं सो दहवयणो ण रक्खिओ विज्जसहस्सेणं[3] ॥८२॥

यदि सर्वदेवता मनुजं रक्षयन्ति पूजिताश्च ।
तर्हि किं स दशवदनो न रक्षितो विद्यासहस्रेण ॥

इय णाउं परमप्पा अट्ठारसदोसवज्जिओ देवो ।
पणविज्जइ भत्तीए जह लब्भइ इच्छियं वत्थुं ॥ ८३ ॥

इति ज्ञात्वा परमात्मानं अष्टादशदोषवर्जितो देवः ।
प्रणम्यते भक्त्या येन लभ्यते इच्छितं वस्तु ॥

वेणइयं मिच्छत्तं कहियं भव्वाण वज्जणट्टं तु ।
एत्तो उड्ढं वोच्छं मिच्छत्तं संसय णाम ॥ ८४ ॥

वैनायिकं मिथ्यात्वं कथितं भव्यानां वर्जनार्थं तु ।
इत ऊर्ध्वं वक्ष्ये मिथ्यात्वं संशयं नाम ॥

इति वैनयिकमिथ्यात्वं तृतीयं ।

---

१ आओ ख । २ मणुयं ख । ३ हिं ख । ४ अस्मादग्रेऽयं निम्नायः पाठः ख–पुस्तके । दर्शनसारगाथाः—

सव्वेसु य तित्थेसु य वेणइयाणं समुब्भवो अत्थि ।
सजडा मुंडियसीसा सिहिणो णग्गा य केई य ॥ १ ॥
दुट्ठे गुणवंते वि य समया भत्ती य सव्वदेवाणं ।
णमणं दंडुव्व जणे परिकलियं तेहिं मूढेहिं ॥ २ ॥
सर्वेषु च तीर्थेषु च वैनयिकानां समुद्भवोऽस्ति ।
सजटा मुण्डितशीर्षाः शिखिनो नग्नाः केचित् ॥
दुष्टे गुणवति अपि च समयो भक्तिः सर्वदेवानां ।
नमनं दण्डवत् जने परिकलितं तैर्मूढैः ॥

अत्रैव " तथा ग्रन्थान्तरे श्लोकत्रयं मतान्तरमाह " इति लिखित्वा श्लोकत्रयं लिखितमस्ति, ते च अग्रतनग्रन्थे १६९–१७०–१७१ वर्तन्ते अतो न लिखिता अत्र । तत्रैव विलोकनीयाः । ज्ञायते, खलु क्षेपकरूपा एते श्लोकाः ।

संसयमिच्छादिट्टी णियमा सो होइ जत्थ सग्गंथो ।
णिग्गंथो वा सिज्झइ कंबलगहणेण सेवडओ ॥ ८५ ॥

संशयमिथ्यादृष्टिर्नियमात् स भवति यत्र सग्रन्थः ।
निर्ग्रन्थो वा सिद्ध्यति कंबलग्रहणेन श्वेतपटः ॥

दंडं दुद्धिय चेलं अण्णं सव्वं पि धम्मउवयरणं ।
मण्णइ मोक्खणिमित्तं गंथे लुद्धो समायरइ ॥ ८६ ॥

दण्डं दुग्धिकं चेलं अन्यत्सर्वमपि धर्मोपकरणं ।
मन्यते मोक्षनिमित्तं ग्रन्थे लुब्धः समाचरति ॥

इत्थीगिहत्थवग्गे तम्मि भवे चेव अत्थि णिव्वाणं ।
कवलाहारं च जिणे णिद्दा तण्हा य संसइओ ॥ ८७ ॥

स्त्रीगृहस्थवर्गे तस्मिन् भवे चैव अस्ति निर्वाणं ।
कवलाहारं च जिने निद्रा तृष्णा च संशयितः ॥

जइ सग्गंथो मुक्खं तित्थयरो किं मुएइ णियरज्जं।
रयणणिहाणेहि समं किं णिवसइ णिज्जणे रण्णे ॥ ८८ ॥

यदि सग्रन्थो मोक्षः, तीर्थकरः किं मुंचति निजराज्यं ।
रत्ननिधानैः समं, किं निवसति निर्जनेऽरण्ये ॥

रयणणिहाणं छंडइ सो किं गिण्हेइ कंबली खंडं ।
दुद्धिय दंडं च पडं गिहत्थजोग्गं पि जं किं[1] पि ॥ ८९ ॥

रत्ननिधानं त्यजति स किं गृह्णाति कम्बलखण्डं ।
दुग्धिकं दण्डं च पटं गृहस्थयोग्यमपि यत् किमपि ॥

गेहे गेहे भिक्खं पत्तं गहिऊण जाइए किं सो ।
किं तस्स रयणविट्ठी घरे घरे णिवडिया तत्थ ॥ ९० ॥

---

1 किंचित् ख ।

गृहे गृहे भिक्षां पात्रं गृहीत्वा याचते किं सः।
किं तस्य रत्नवृष्टिः गृहे गृहे निपतिता तत्र ॥

ण हु एवं जं उत्तं संसयमिच्छत्तरसियचित्तेण।
णिग्गंथमोक्खमग्गो किंचणवहिरंतणचएण ॥ ९१ ॥

न हि एवं यदुक्तं संशयमिथ्यात्वरसिकचित्तेन।
निर्ग्रन्थमोक्षमार्गः किंचनबाह्यान्तस्त्यक्तेन ॥

जइ तप्पइ[1] उग्गतवं मासे मासे च पारणं कुणइ।
तह वि ण सिज्झइ इत्थी कुच्छियलिंगस्स दोसेण ॥ ९२ ॥

यदि तप्यते उग्रतपः मासे मासे च पारणं करोति।
तथापि न सिद्ध्यति स्त्री कुत्सितलिंगस्य दोषेण ॥

मायापमायपउरा पडिमासं तेसु होइ पक्खलणं।
णिच्चं जोणिस्साओ दारढुं णत्थि चित्तस्स ॥ ९३ ॥

मायाप्रमादप्रचुराः प्रतिमासं तासु भवति प्रस्खलनं।
नित्यं योनिस्रावः दार्ढ्यं ? नास्ति चित्तस्य ॥

सुहमापज्जत्ताणं मणुआणं जोणिणाहिकक्खेसु।
उप्पत्ती होइ सया अण्णेसु य तणुपएसेसु[2] ॥ ९४ ॥

सूक्ष्मापर्याप्तानां मनुष्याणां योनिनाभिकक्षेषु।
उत्पत्तिर्भवति सदा अन्येषु च तनुप्रदेशेषु ॥

---

१ तवेप्पइ क। २ अस्मादग्रे अयं पाठः ख–पुस्तके। उक्तं च पंचसंग्रहटीकायां गतिमार्गणायां अपर्याप्ता नराः कदाचिद्भवन्ति कदाचित्तेऽपर्याप्ता नराश्च संम्मूर्च्छिनस्ते मनुष्या गृह्यन्ते नेतरे, ते च चक्रवर्तिबलदेववासुदेवादीनां स्त्रीणां कक्षोपस्थान्तरादिदेशेषूत्पद्यन्ते। उक्तं च—

ण हु अत्थि तेण तेसिं इत्थीणं दुविहसंजमोद्धरणं ।
संजमधरणेण विणा ण हु मोक्खो तेण जम्मेण ॥ ९५ ॥

न ह्यस्ति तेन तासां स्त्रीणां द्विविधसंयमधारणं ।
संयमधारणेन विना न हि मोक्षस्तेन जन्मना ॥

अहवा एयं वयणं तेसिं जीवो ण होइ किं जीवो ।
किं णत्थि णाणदंसण उवओगो चेयणा तस्स ॥ ९६ ॥

अथवा एतद्वचनं तासां जीवो न भवति किं जीवः ।
किं नास्ति ज्ञानदर्शनं उपयोगः चेतना तस्य ॥

जइ एवं तो इत्थि धीवरिकल्लालिवेसआईणं ।
सव्वेसिमत्थि जीवो सयलाओ तरिहि सिज्झंति ॥ ९७ ॥

यद्येवं तर्हि स्त्री धीवरीकल्लारिकावेश्यादीनां ।
सर्वासामस्ति जीवो सकलास्तर्हि सिद्ध्यन्ति ॥

तम्हा इत्थीपज्जय[1] पडुच्च जीवस्स पयडिदोसेण ।
जाओ अभव्वकालो तम्हा तेसिं ण णिव्वाणं ॥ ९८ ॥

तस्मात्स्त्रीपर्यायं प्रतीत्य जीवस्य प्रकृतिदोषेण ।
जातः अभव्यकालः तस्मात्तासां न निर्वाणं ॥

अइउत्तमसंहणणो[2] उत्तमपुरिसो कुलग्गओ संतो ।
मोक्खस्स होइ जुग्गो[3] णिग्गंथो धरियजिणलिंगो ॥ ९९ ॥

चक्री (क्रि) सुहलभृत्कृष्णप्रभृत्युत्कटभूभृतां ।
स्कन्धावारसमूहेषु प्रस्रवोच्चारभूमिषु ॥ १ ॥
शुक्रसंघाणकश्लेष्मकर्णदन्तमलेषु च ।
अत्यन्ताशुचिदेहेषु सद्यः सम्मूर्च्छयन्ति ये ॥ २ ॥
भूत्वा घनाङ्गुलासंख्याभागमात्रशरीरकाः ।
आशु नश्यंत्यपर्याप्तास्ते स्युः सम्मूर्छिमा नराः ॥ ३ ॥

१ पज्जायं ख । २ णेण ख । ३ जो ख ।

अत्युत्तमसंहनन उत्तमपुरुषः कुलगतः सन् ।
मोक्षस्य भवति योग्यो निर्ग्रन्थो धृतजिनलिंगः ॥

गिहलिंगे वट्टंतो गिहत्थवावारगहियतियजोओ ।
अट्टरउद्दारूढो मोक्खं ण लहेइ कुलजो वि ॥ १०० ॥

गृहस्थलिंगे वर्तमानः गृहस्थव्यापारगृहीतत्रियोगः ।
आर्तरौद्रारूढः मोक्षं न लभते कुलजोऽपि ॥

बज्झब्भंतरगंथे वट्टंतो इंदियत्थपरिकलिओ ।
जइ वि हु दंसणवंतो तहा वि ण सिज्झेइ तम्मि भवे ॥१०१॥

बाह्याभ्यन्तरग्रन्थे वर्तमानः इन्द्रियार्थपरिकालितः ।
यद्यपि हि दर्शनवान् तथापि न सिद्धयति तस्मिन् भवे ॥

जइ गिहवंतो सिज्झइ अगहियणिग्गंथलिंगसग्गंथो ।
तो किं सो तित्थयरो णिस्संगो तवइ एगागी[1] ॥ १०२ ॥

यदि गृहवान् सिद्धयति अगृहीतनिर्ग्रन्थलिंगसग्रन्थः ।
तर्हि किं स तीर्थकरो निःसंगस्तपति एकाकी ॥

केवलभुत्ती[2] अरुहे कहिया जा सेवडेण तहिं तेण ।
सा णत्थि तस्स णूणं णिहयमणोपरमजोईणं[3] ॥ १०३ ॥

कवलभुक्तिः अर्हति कथिता या श्वेतपटेन तस्मिन् तेन ।
सा नास्ति तस्य नूनं निहतमनःपरमयोगिनः ॥

गुत्तित्तयजुत्तस्स[4] य इंदियवावाररहियचित्तस्स ।
भाविंदियमुक्खस्स[5] य जीवस्स य णिच्चलं झाणं ॥ १०४ ॥

गुप्तित्रययुक्तस्य च इंद्रियव्यापाररहितचित्तस्य ।
भावेन्द्रियमुख्यस्य च जीवस्य निश्चलं ध्यानं ॥

---

१ एयाई ख । २ केवलिभुत्ति अरुहो ख । ३ जं ख । ४ गु. क. । ५ क्ख ख । चेतनालक्षणस्य ।

झाणेण तेण तस्स हु जीवमणस्साणसमरसीयरणं[1] ।
समरसभावेण पुणो संवित्ती होइ णियमेण ॥ १०५ ॥
ध्यानेन तेन तस्य हि जीवमनआणसमरसीकरणं ।
समरसभावेन पुन संवित्तिः भवति नियमेन ॥

संवित्तीए वि तहा तण्हा णिद्दा य छुहा य तस्स णस्संति ।
णट्ठेसु तेसु पुरिसो खवयस्सेणिं समारुहइ ॥ १०६ ॥
संवित्तावपि तथा तृष्णा निद्रा क्षुधा च तस्य नश्यन्ति ।
नष्टेषु तेषु पुरुषः क्षपकश्रेणिं समारोहति ॥

खवएसु य आरूढो णिद्दाईकारणं तु जो मोहो ।
जाइ खयं णिस्सेसो तक्खीणे केवलं णाणं ॥ १०७ ॥
क्षपकेषु च आरूढो निद्रादिकारणं तु यो मोहः ।
याति क्षयं निःशेषं: तत्क्षये केवलं ज्ञानं ॥

तं पुण केवलणाणं दसट्टदोसाण हवइ णासम्मि ।
ते दोसा पुण तस्स हु छुहाइया[2] णत्थि केवलिणो ॥१०८॥
तत्पुनः केवलज्ञानं दशाष्टदोषाणां भवति नाशे ।
ते दोषाः पुनस्तस्य हि क्षुधादिका न सन्ति केवलिनः ॥

जइ संति तस्स दोसा केत्तियमित्ता छुहाइ जे भणिया ।
ण हवइ सो परमप्पा अणंतविरिओ हु सो अहवा ॥ १०९॥
यदि संन्ति तस्य दोषाः कियन्मात्राः क्षुधादिका ये भणिताः ।
न भवति स परमात्मा अनन्तवीर्यो हि सोऽथवा ॥

णोकम्मकम्महारो कवलाहारो य लेप्पहारो य ।
उज्ज मणो वि य कमसो आहारो छव्विहो णेओ[3] ॥११०॥

१ णु क । २ छुहाइया—क्षुधादिका ग । ३ भणिओ ख ।

नोकर्मकर्माहारौ कवलाहारश्च लेपाहारश्च ।
ओजो मनोऽपि च क्रमशः आहारः पड्विधो ज्ञेयः ॥

णोकम्मकम्महारो जीवाणं होइ चउगइगयाणं ।
कवलाहारो णरपसु रुक्खेसु य लेप्पमाहारो ॥ १११ ॥

नोकर्मकर्माहारौ जीवानां भवतः चतुर्गतिगतानां ।
कवलाहारो नरपशूनां वृक्षेषु च लेपाहारः ॥

पक्खीणुज्जाहारो अंडयमज्झेसु वट्टमाणाणं ।
देवेसु मणाहारो चउव्विहो णत्थि केवलिणो ॥ ११२ ॥

पक्षिणामोज-आहारः अण्डमध्येषु वर्तमानानां ।
देवेषु मन-आहारः चतुर्विधो नास्ति केवलिनः ॥

णोकम्मकम्महारो उवयारेण तस्स आयमे भणिओ ।
ण हु णिच्छएण सो वि हु स वीयराओ परो जम्हा ॥११३॥

नोकर्मकर्माहारौ उपचारेण तस्यागमे भणितौ ।
न हि निश्चयेन सो पि हि स वीतरागः परो यस्मात् ॥

जो जेमइ सो सोवइ सुत्तो अण्णे वि विसयमणुहवइ ।
विसए अणुहवमाणो स वीयराओ कहं णाणी ॥ ११४ ॥

यो जेमति स स्वपिति सुप्तो अन्यानपि विषयाननुभवति ।
विषयाननुभवमानः स वीतरागः कथं ज्ञानी ॥

तम्हा कवलाहारो केवलिणो णत्थि दोहिं वि णएहिं ।
मण्णंति य आहारं जे ते मिच्छायअण्णाणी ॥ ११५ ॥

तस्मात्कवलाहारः केवलिनो नास्ति द्वाभ्यामपि नयाभ्यां ।
मन्यन्ते चाहारं ये ते मिथ्याज्ञानिनः ॥

---

१ से क । २ ना ख ।

अण्णं जं इय उत्तं संसयमिच्छत्तकलियभावेण ।
अम्हंचि थविरकप्पो कंवलगहणेण ण हु दोसो ॥ ११६ ॥

अन्यद्यादित्युक्तं संशयमिथ्यात्वकलितभावेन ।
अस्माकं स्थविरकल्पः कम्बलग्रहणेन न हि दोषः ॥

कंवलि वत्थं दुद्धिय दंडं कणयं च रयणभंडाइं ।
सग्गग्गमणणिमित्तं मोक्खस्स य होइ णिब्भंतं ॥ ११७ ॥

कम्बलं वस्त्रं दुग्धिकं दण्डं कनकं च रत्नभाण्डादीनि ।
स्वर्गगमननिमित्तं मोक्षस्य च भवति निर्भ्रान्तं ।

ण उ[1] होइ थविरकप्पो गिहत्थकप्पो हवेइ फुडु एसो ।
इय सो[2] धुत्तेहिं कओ थविरकप्पस्स भग्गेहिं ॥ ११८ ॥

न ऊ भवति स्थविरकल्पो गृहस्थकल्पो भवति स्फुटमेषः ।
इति धूर्तैः कृतः स्थविरकल्पस्य भग्नैः ॥

दुविहो जिणेहिं कहिओ जिणकप्पो तह य थविरकप्पो य ।
सो जिणकप्पो उत्तो[3] उत्तमसंहणणधारिस्स ॥ ११९ ॥

द्विविधो जिनैः कथितो जिनकल्पस्तथा च स्थविरकल्पश्च ।
स जिनकल्प उक्त उत्तमसंहननधारिणः ॥

जत्थ ण कंटयभग्गो पाए णयणम्मि रयपविट्ठम्मि ।
फेडंति सयं मुणिणो परावहारे य तुण्हिक्का ॥ १२० ॥

यत्र न कंटकलग्नं पादे नयनयो रजःप्रविष्टे ।
स्फेटयन्ति स्वयं मुनयः परापहारे च तूष्णीकाः ॥

---

१ ऊ गर्हाविस्मयसूचनाक्षेपे इत्यनेन आक्षेपे गम्यते । २ सोक्खयरेहि ख
३ कहिओ ख ।

जलवरिसणवा याई गमणे भग्गे य जम्म छम्मासं।
अच्छंति णिराहारा काओसग्गेण छम्मासं ॥ १२१ ॥

जलवर्षायां जातायां गमने भग्ने च यावत् षण्मासं ।
तिष्ठन्ति निराहाराः कायोत्सर्गेण षण्मासं ॥

एयारसंगधारी एआई धम्मसुक्कझाणी य ।
चत्तासेसकसाया मोणवई कंदरावासी ॥ १२२ ॥

एकादशांगधारिणः एते धर्म्यशुक्लध्यानिनश्च ।
त्यक्ताशेषकषायाः मौनव्रताः कन्दरावासिनः ॥

बहिरंतरगंथचुवा णिण्णेहा णिप्पिहा य जइवइणो ।
जिण इव विहरंति सया ते जिणकप्पे ठिया सवणा ॥१२३॥

बाह्याभ्यन्तरग्रन्थच्युता निःस्नेहा निस्पृहाश्च यतिपतयः ।
जिना इव विहरन्ति सदा ते जिनकल्पे स्थिताः श्रमणाः ॥

थविरकप्पो वि कहिओ अणयाराणं जिणेण सो एसो ।
पंचचेलच्चाओ अकिंचणत्तं च पडिलिहणं ॥ १२४ ॥

स्थविरकल्पोऽपि कथितः अनगाराणां जिनेन स एषः ॥
पंचचेलत्यागोऽकिंचनत्वं च प्रतिलेखनं ॥

पंचमहव्वयधरणं ठिदिभोयण एयभत्त करपत्तो ।
भत्तिभरेण य दत्तं काले य अंजायणे भिक्खं ॥ १२५ ॥

---

१ समिया. ख। २ अस्मादग्रेऽयं पाठः ख–पुस्तके ।

अंडजबुंडजरोमजचर्मजवल्कजपंचचेलानि ।
परिहृत्य तृणजचेलं यो गृह्णीयान्न भवेत् स यतिः ॥ १ ॥
रजसेदाणमगहणं मद्दव सुकुमालदा लहुत्तं च ।
जत्थेदे पंचगुणा तं पडिलिहणं पसंसंति ॥ २ ॥

पंचमहाव्रतधारणं स्थितिभोजनं एकभक्तं करपात्रम् ।
भक्तिभरेण च दत्तं काले च अयाचना भिक्षा ॥

दुविहतवे उज्जमणं छव्विहआवासएहिं अणवरयं ।
खिदिसयणं सिरलोओ जिणवरपडिरूवपडिगहणं ॥१२६॥

द्विविधतपसि उद्यमनं षड्विधावश्यकैः अनवरतं ।
क्षितिशयनं शिरोलोचः जिनवरप्रतिरूपप्रतिग्रहणं ॥

संहणणस्स गुणेण य दुस्समकालस्स तवपहावेण ।
पुरणयरगामवासी थविरे कप्पे ठिया जाया ॥ १२७ ॥

संहननस्य गुणेन च दुःषमाकालस्य तपःप्रभावेन ।
पुरनगरग्रामवासिनः स्थविरे कल्पे स्थिता जाताः ॥

उवयरणं तं गहियं जेण ण भंगो हवेइ चरियस्स ।
गहियं पुत्थयदाणं जोग्गं जस्स तं तेण ॥ १२८ ॥

उपकरणं तद्गृहीतं येन न भंगो भवति चर्यायाः ।
गृहीतं पुस्तकदानं योग्यं यस्य तत्तेन ॥

समुदाएण विहारो धम्मस्स पहावणं ससत्तीए ।
भवियाण धम्मसवणं सिस्साण य पालणं गहणं ॥ १२९ ॥

समुदायेन विहारो धर्मस्य प्रभावनं स्वशक्त्या ।
भव्यानां धर्मश्रवणं शिष्यानां च पालनं ग्रहणं ॥

संहणणं अइणिच्चं कालो सो दुस्समो मणो चवलो ।
तह वि हु धीरा पुरिसा महव्वयभरधरणउच्छहिया ॥१३०॥

सहननमतिनीचं कालः स दुःषमो मनश्चपलं ।
तथापि हि धीराः पुरुषा महाव्रतभारधारणोत्साहाः ॥

वरिससहस्सेण पुरा जं कम्मं हणइ तेण काएण ।
तं संपइ वरिसेण हु णिज्जरयइ हीणसंहणणे ॥ १३१ ॥

वर्षसहस्रेण पुरा यत्कर्म हन्यते तेन कायेन ।
तत्संप्रति वर्षेण हि निर्जरयति हीनसंहननेन ॥

एवं दुविहो कप्पो परमजिणंदेहिं अक्खिओ णूणं ।
अण्णो पासंडिकओ गिहकप्पो गंथपरिकलिओ ॥ १३२ ॥

एवं द्विविधः कल्पः परमजिनैः कथितो नूनं ।
अन्यः पाषण्डिकृतो गृहस्थकल्पो ग्रन्थपरिकलितः ॥

दुद्धरतवस्स भग्गा परिसहविसएहिं पीडिया जे[1] य ।
जो गिहकप्पो लोए स थविरकप्पो कओ तेहिं ॥ १३३ ॥

दुर्धरतपसः भग्नाः परीषहविषयैः पीडिता ये च ।
यो गृहकल्पो लोके स स्थविरकल्पः कृतः तैः ॥

णिग्गंथो जिणवसहो णिग्गंथं पवयणं कयं तेण ।
तस्साणुमग्गलग्गा सव्वे णिग्गंथमहरिसिणो ॥ १३४ ॥

निर्ग्रन्थो जिनवृषभो निर्ग्रन्थं प्रवचनं कृतं तेन ।
तस्यानुमार्गलग्नाः सर्वे निर्ग्रन्थमहर्षयः ॥

जे पुण भूसियगंथा दूसियणिग्गंथलिंगवयभट्टा ।
तेहिं सगंथं लिंगं पयडियं[2] तित्थणाहस्स ॥ १३५ ॥

ये पुनर्भूषितग्रन्था: दूषितनिर्ग्रन्थलिंगव्रतभ्रष्टाः ।
तैः सग्रन्थं लिंगं प्रकटितं तीर्थनाथस्य ॥

जं जं संयमायरियं[3] तं तं णिरुआयमेण अलिएण ।
लोए वक्खाणित्ता अण्णाणी वंचिंआ तेहिं[4-5-6] ॥ १३६ ॥

---

१ जेहिं ख । २ प ख । ३ समय क । ४ ओ क । ५ ण ख । ६ अस्मादग्रे इदं गाथासूत्रमुपलभ्यते—

णिग्गंथं दूसित्ता णिंदित्ता अप्पणं पसंसित्ता ।
जीवेइ मूढलोए कयमायं गहियवहुदव्वेहिं ॥ १ ॥

तत्तु अस्मिन् ग्रन्थे १५४ गाथासूत्रादग्रेऽस्ति, ख–पुस्तके तु पुनरपि ।

यत् यत् स्वयमाचरितं तत्तत् निरागमेनालीकेन।
लोके व्याख्याय अज्ञानिनो वंचितास्तै॥ः

छत्तीसे वरिससए विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
सोरट्ठे उप्पण्णो सेवडसंघो हु वलहीए॥ १३७॥

षट्त्रिंशति वर्षशते विक्रमराजस्य मरणप्राप्तस्य।
सौराष्ट्रे उत्पन्नः श्वेतपटसंघो हि वल्लभीके॥

आसि उज्जेणिणयरे आयरिओ भद्दबाहु णामेण।
जाणिय सुणिमित्तधरो भणिओ संघो णिओ तेण॥ १३८॥

आसीदुज्जयिनीनगरे आचार्यः भद्रबाहुः नाम्ना।
ज्ञात्वा सुनिमित्तधरः भणितः संघो निजस्तेन॥

होहइ इह दुब्भिक्खं बारहवरसाणि जाम पुण्णाणि[1]।
देसंतराइं गच्छह णियणियसंघेण संजुत्ता॥ १३९॥

भविष्यतीह दुर्भिक्षं द्वादशवर्षाणि यावत्पूर्णानि।
देशान्तराणि गच्छत निजनिजसंघेन संयुक्ताः॥

सोऊण इमं वयणं णाणादेसेहिं गणहरा सव्वे।
णियणियसंघपउत्ता विहरीआ जत्थ सुब्भिक्खं॥ १४०॥

श्रुत्वेदं वचनं नानादेशे गणधराः सर्वे।
निजनिजसंघप्रयुक्ता विहृता यत्र सुभिक्षं॥

एक्कं[2] पुण संतिणामो संपत्तो वलहिणामणयरीए।
बहुसीससंपउत्तो विसए सोरट्ठए रम्मे॥ १४१॥

एकः पुनः शान्तिनामा संप्राप्तः वल्लभीनामनगर्याम्।
बहुशिष्यसंप्रयुक्तः विषये सौराष्ट्रे रम्ये॥

---

१ णा ख। २ को ख।

तत्थ वि गयस्स जायं दुब्भिक्खं दारुणं महाघोरं।
जत्थ वियारिय उयरं खद्धो रंकेहि कूरुत्ति ॥ १४२ ॥

तत्रापि गतस्य जातं दुर्भिक्षं दारुणं महाघोरं।
यत्र विदार्योदरं भक्षितः रंकैः कूर इति ॥

तं लहिऊण णिमित्तं गहियं सव्वेहि कंवली दंडं।
दुद्धियपत्तं च तहा पावरणं सेयवत्थं च ॥ १४३ ॥

तल्लब्ध्वा निमित्तं गृहीतं सर्वैः कम्बलं दण्डं।
दुग्धिकपात्रं च तथा प्रावरणं श्वेतवस्त्रं च ॥

चत्तं रिसिआयरणं गहिया भिक्खा य दीणवित्तीए।
उवविसिय जाइऊणं भुत्तं वसहीसु इच्छाए ॥ १४४ ॥

त्यक्तं ऋष्याचरणं गृहीता भिक्षा च दीनवृत्त्या।
उपविश्य याचयित्वा भुक्तं वसतिष्विच्छया ॥

एवं वट्टंताणं कित्तियकालम्मि चावि परियलिए।
संजायं सुब्भिक्खं जंपइ ता संतिआइरिओ ॥ १४५ ॥

एवं वर्तमानानां कियत्काले चापि परिचलिते।
संजातं सुभिक्षं जल्पति तान् शान्त्याचार्यः ॥

आवाहिऊण संघं भणियं छंडेह कुत्थियायरणं।
णिंदिय गरहिय गिण्हह पुणरवि चरियं मुणिंदाणं ॥१४६॥

आहूय संघं भणितं त्यजत कुत्सिताचरणं।
निंदत गर्हत गृह्णत पुनरपि चारित्रं मुनीन्द्राणां ॥

तं वयणं सोऊणं उत्तं सीसेण तत्थ पढमेण।
को सक्कइ धारेउं एयं अइदुद्धरायरणं ॥ १४७ ॥

---

१ भीमं ख। २ कूरोति ख। ३ जिनचन्द्रेण।

तद्वचनं श्रुत्वा उक्तं शिष्येन तत्र प्रथमेन ।
कः शक्नोति धर्तुं एतदतिदुर्धराचरणं ॥

उववासो य अलाभे अण्णे दुसहाइं अंतरायाइं ।
एक्कट्ठाणमचेलं अज्जायण बंभचेरं च ॥ १४८ ॥

उपवासं चालाभे अन्यानि दुःसहानि अन्तरायाणि ।
एकस्थानमचेलं अयाचनं ब्रह्मचर्यं च ॥

भूमीसयणं लोचो वेवेमासेहिं असहणिज्जो हु ।
वावीसपरीसयाइं असहणिज्जाइं णिच्चं पि ॥ १४९ ॥

भूमिशयनं लोचो द्विद्विमासेन असहनीयो हि ।
द्वाविंशतिपरीषहा असहनीया नित्यमपि ॥

जं पुण संपइ गहियं एयं अम्हेहि किं पि आयरणं ।
इह लोए सुक्खयरं ण छंडिमो हु[1] दुस्समे काले ॥ १५० ॥

यत्पुनः सम्प्रति गृहीतं एतत् अस्माभिः किमप्याचरणं ।
इह लोके सुखकरं न त्यजामो हि दुःषमे काले ॥

ता संतिणा पउत्तं चरियपभट्ठेहिं जीवियं लोए ।
एयं ण हु सुंदरयं दूसणयं जइणमग्गस्स ॥ १५१ ॥

तावत् शान्तिना प्रोक्तं चारित्रभ्रष्टानां जीवितं लोके ।
एतन्न हि सुन्दरं दूषणकं जैनमार्गस्य ॥

णिग्गंथं पव्वयणं जिणवरणाहेण अक्खियं परमं ।
तं छंडिऊण अण्णं पवत्तमाणेण मिच्छत्तं ॥ १५२ ॥

निर्ग्रन्थं प्रवचनं जिनवरनाथेन कथितं परमं ।
तत् त्यक्त्वा अन्यत्प्रवर्तमानेन मिथ्यात्वं ॥

---

१ नास्त्ययं ख-पुस्तके ।

ता रूसिऊण पहओ सीसे सीसेण दीहदंडेण ।
थविरो घाएण मुओ जाओ सो विंतरो देवो ॥ १५३ ॥

तावत् रुषित्वा प्रहतः शिरसि शिष्येण दीर्घदण्डेन ।
स्थविरो घातेन मृतः जातः स व्यन्तरो देवः ॥

इयरो संघाहिवई पयडिय पासंड सेवडो जाओ ।
अक्खइ लोए धम्मं सग्गंथे अत्थि णिव्वाणं ॥ १५४ ॥

इतरः संघाधिपतिः प्रकट्य पाषंडं श्वेतपटो जातः ।
कथयति लोके धर्मं सग्रन्थेऽस्ति निर्वाणं ॥

सत्थाइं विरइयाइं णियणियपासंडगहियसरिसाइं ।
वक्खाणिऊण लोए पवित्तिओ तारिसायरणो ॥ १५५ ॥

शास्त्राणि विरचितानि निजनिजपापण्डगृहीतसदृशानि ।
व्याख्याय लोके प्रवर्तितं तादृशाचरणं ॥

णिग्गंथं दूसित्ता णिंदित्ता अप्पणं पसंसित्ता ।
जीवेइ मूढलोए कयमायं गहिय बहुदव्वं[1][2] ॥ १५६ ॥

निर्ग्रन्थं दूषयित्वा निन्दित्वा आत्मानं प्रशस्य ।
जीवति मूढलोके कृतमायं गृहीत्वा बहुद्रव्यं ॥

---

१ गहियं बहुं दव्वं. क । २ अस्मादग्रेऽयं पाठः । दर्शनसाराद्गाथैका—

अण्णं च एवमाई आयमदुट्ठाइं मिच्छसत्थाइं ।
विरइत्ता अप्पाणं परिठावियं पढमए णरए ॥ १ ॥

अन्यच्च एवमादीनि आगमदुष्टानि मिथ्याशास्त्राणि ।
विरच्यात्मानं प्रस्थापितं प्रथमे नरके ॥

इयरो विंतरदेवो संती लग्गो उवद्दवं काउं ।
जंपइ मा मिच्छत्तं गच्छहं लहिऊण जिणधम्मं ॥ १५७ ॥

इतरो व्यन्तरदेवः शान्तिः लग्नः उपद्रवं कर्तुं ।
जल्पति मा मिथ्यात्वं गच्छत लब्ध्वा जिनधर्मं ॥

भीएहिं तस्स पुआ अट्ठविहा सयलदव्वसंपुण्णा ।
जा जिणचंदें रइया सा अज्ज वि दिण्णिया तस्स ॥१५८॥

भीतेन तस्य पूजा अष्टविधा सकलद्रव्यसम्पूर्णा ।
या जिनचंद्रेण रचिता सा अद्यापि दीयते तस्मै ॥

अज्ज वि सा वलिपूया पढमयरं दिंति तस्स णामेण ।
सो कुलदेवो उत्तो सेवडसंघस्स पुज्जो सो ॥ १५९ ॥

अद्यापि सा वलिपूजा प्रथमतरं दीयते तस्य नाम्ना ।
स कुलदेव उक्तः श्वेतपटसंघस्य पूज्यः सः ॥

इय उप्पत्ती कहिया सेवडयाणं च मग्गभट्टाणं ।
एत्तो उड्ढं वोच्छं णिसुणह अण्णाणमिच्छत्तं ॥ १६० ॥

एषा उत्पत्तिः कथिता श्वेतपटानां च मार्गभ्रष्टानां ।
इत ऊर्ध्वं वक्ष्ये निःशृणुत अज्ञानमिथ्यात्वं ॥

इति संशयमिथ्यात्वं चतुर्थं ।

---

१ हं क । २ प ख । ३ अस्माद्गाथासूत्रादग्रेऽयं पाठः ।
णग्गो हरु अरहंतो रत्तो बुद्धो पियंवरो कण्हो ।
कच्छोटियाण बंभो को देवो कंबलावरणो ॥ १ ॥
रूपेण येन शिवमङ्गिगणः प्रयाति
तद्रूपमेव मनुजैः परिपूज्यतेऽत्र ।
सिद्धिर्यदि प्रभवतीह नितम्बिनीनां
तद्रूपिणः कथममी न जिना भवन्ति ॥ २ ॥

मसयरपूरणरिसिणो उप्पण्णो पासणाहतित्थम्मि ।
सिरिवीरसमवसरणे अगहियझुणिणा णियत्तेण ॥ १६१ ॥
मस्करिपूरणऋषिरुत्पन्नः पार्श्वनाथतीर्थे ।
श्रीवीरसमवशरणे अगृहीतध्वनिना निर्वृत्तेन ॥

वहिणिग्गएण उत्तं मज्झं एयारसंगधारिस्स ।
णिग्गइ झुणी ण अरुहो विणिग्गया सा ससीसस्स ॥१६२॥
वहिर्निर्गतेन उक्तं मह्यं एकादशांगधारिणे ।
निर्गच्छति ध्वनिं न अर्हन् विनिर्गता सा स्वशिष्याय ॥

ण मुणइ जिणकहियसुयं संपइ दिक्खा य गहिय गोयमओ ।
विप्पो वेयब्भासी तम्हा मोक्खं ण णाणाओ ॥ १६३ ॥
न जानाति जिनकथितं श्रुतं संप्रति दीक्षां च गृहीतः गौतमः ।
विप्रो वेदभाषी तस्मान्मोक्षो न ज्ञानतः ॥

अण्णाणाओ मोक्खं एवं लोयाण पयडमाणो हु ।
देवो ण अत्थि कोई सुण्णं झाएहं इच्छाए ॥ १६४ ॥
अज्ञानतो मोक्ष एवं लोकान् प्रकटमानो हि ।
देवो नास्ति कश्चिच्छून्यं ध्यायत इच्छया ॥

एवं पंचवयारं मिच्छत्तं सुग्गईणिवारणयं ।
दुक्खसहस्सावासं परिहरियव्वं पयत्तेण ॥ १६५ ॥
एवं पंचप्रकारं मिथ्यात्वं सुगतिनिवारणकं ।
दुःखसहस्रावासं परिहर्तव्यं प्रयत्नेन ॥

मिच्छत्तेणाच्छण्णो अणाइकालं चउग्गईभुवणे[6] ।
भमिओ दुक्खकंतो जीवो देहाइं गिण्हंतो ॥ १६६ ॥

१ हे ख । २ णिग्गयावि क । ३ न क । ४ हि ख । ५ प ख । ६ भमणे ख । भवणे क ।

मिथ्यात्वेनाच्छन्नोऽनादिकालं चतुर्गतिभुवने।
भ्रमितो दुःखाक्रान्तो जीवो देहान् गृह्णन्॥

एइंदियाइंपहुइ जावय पंचक्खविविहजोणीसु।
भमिहइ भविस्सयाले पुणरवि मिच्छत्तपच्छइओ॥१६७॥
एकेन्द्रियप्रभृतिषु यावत्पंचाक्षविविधयोनिषु।
भ्रमिष्यति भविष्यत्काले पुनरपि मिथ्यात्वप्रच्छादितः॥

अट्टरउद्दारूढो विसमे काऊण विविहपावाइं।
अवियाणंतो धम्मं उप्पज्जइ तिरियणरएसु॥ १६८॥
आर्तरौद्रारूढो विषमानि कृत्वा विविधपापानि।
अजानानः धर्मं उत्पद्यते तिर्यङ्नरकेषु॥

अहवा जह कहव पुणो पावइ मणुयत्तणं च संसारे।
जुअंसमिला[1] संजोए लहइ ण देसो कुलं आऊ॥ १६९॥
अथवा यथा कथमपि पुनः प्राप्नोति मनुष्यत्वं च संसारे।
·········संयोगे लभते न देशं कुलं आयुः॥

पउरं आरोयत्तं इंदियपुण्णत्तणं च जोव्वणियं।
सुंदररूवं लच्छी अच्छइ दुक्खेण तप्पंतो॥ १७०॥
प्रचुरमारोग्यत्वं इन्द्रियपूर्णत्वं च यौवनं।
सुन्दररूपं लक्ष्मीं अर्थ्यते दुःखेन तप्यमानः॥

जइ कह वि हु एयाइं पावइ सव्वाइं तो ण पावेई।
धम्मं जिणेण कहियं कुच्छियगुरुमग्गलग्गाओ॥ १७१॥
यदि कथमपि हि एतानि प्राप्नोति सर्वाणि तर्हि न प्राप्नोति।
धर्मं जिनेन कथितं कुत्सितगुरुमार्गलग्नः॥

इत्यज्ञानमिथ्यात्वं पंचमम्।

---

१ जुयसमला ख।

कउलायरिओ अक्खइ अत्थि ण जीवो हु कस्स तं पावं ।
पुण्णं वा कस्स भवे को गच्छइ णरयसग्गं वा ॥ १७२ ॥

कौलाचार्यः कथयति अस्ति न जीवो हि कस्य तत्पापं ।
पुण्यं वा कस्य भवेत् को गच्छति नरकस्वर्गं वा ॥

जह गुडधादइजोए पिठरे जाएइ मज्जिरासत्ती ।
तह पंचभूयजोए चेयणसत्ती समुब्भवइ ॥ १७३ ॥

यथा गुडधातकीयोगे पिठरे जायते मदिराशक्तिः ।
तथा पंचभूतयोगे चेतनाशक्तिः समुद्भवति ॥

गब्भाईमरणंतं जीवो अत्थित्ति तं पुणो मरणं ।
पंचभूयाणणासे पच्छा जीवत्तणं णत्थि ॥ १७४ ॥

गर्भादिमरणान्तं जीवोऽस्तीति तस्य पुनः मरणं ।
पंचभूतानां नाशे पश्चाज्जीवत्वं नास्ति ॥

उक्तं च—

देहात्मिका देहकार्या देहस्य च गुणो मतिः ।
मतत्रयमिहाश्रित्य जीवाभावो विधीयते[१] ॥ १ ॥

तम्हा इंदियसुक्खं भुंजिज्जइ अप्पणाइं इच्छाए ।
खज्जइ पिज्जइ मज्जं मंसं सेविज्जइ परमहिलाए ॥ १७५ ॥

तस्मादिन्द्रियसौख्यं भुज्यतां आत्मन इच्छया ।
खाद्यतां पीयतां मद्यं मांसं सेव्यतां परमहिलाः ॥

जो इंदियाइं दंडइ विसया परिहरइ खवइ णियदेहं ।
सो अप्पाणं वंचइ गहिओ भूएहिं दुब्बुद्धी ॥ १७६ ॥

---

१ अस्मादग्रेऽयं पाठोऽपि ख–पुस्तके । अथ वाक्यं–कालान्तरे भवान्तरे खरशशकाश्ववेसराणां शृङ्गाभावस्तथा जीवो नास्ति तस्मात्पुण्यपापाभावः ।

य इन्द्रियाणि दण्डयति विषयान् परिहरति क्षपयति निजदेहं।
स आत्मानं वञ्चयति गृहीतो भूतैः दुर्बुद्धिः॥

उक्तं च—

याबज्जीवेत् सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य कायस्य पुनरागमनं कुतः॥ १॥

इति चार्वाकमिथ्यात्वम्।

संखो पुणु भणइ इयं जीवो अत्थित्ति किरियपरिहीणो।
देहम्मि णिवसमाणो ण लिप्पए पुण्णपावेहिं॥ १७७॥

सांख्यः पुनः भणति एवं जीवोऽस्तीति क्रियापरिहीनः।
देहे निवसमानो न लिप्यते पुण्यपापैः॥

छिज्जइ भिज्जइ पयडी पयडी परिभमइ दीहसंसारे।
पयडी करेइ कम्मं पयडी भुंजेइ सुहदुक्खं॥ १७८॥

छिद्यते भिद्यते प्रकृतिः प्रकृतिः परिभ्रमति दीर्घसंसारे।
प्रकृतिः करोति कर्म प्रकृतिः भुनक्ति सुखदुःखं॥

जीवो सया अकत्ता भुत्ता ण हु होइ पुण्णपावस्स।
इय पयडिऊण लोए गहिया बहिणी सधूया वि॥ १७९॥

जीवः सदा अकर्ता, भोक्ता न हि भवति पुण्यपापस्य।
इति प्रकट्य लोके गृहीता भगिनी स्वसुतापि॥

एए विसयासत्ता कग्गुम्मत्ता[1] य जीवदयरहिया।
परतियधणहरणरया अगहियधम्मा दुरायारा॥ १८०॥

---

१ कम्ममत्ता ख. कामोन्मत्ताः। २ मद्योन्मत्ताः।

एते विषयासक्ताः कुगुमत्ताश्च जीवदयारहिताः ।
परस्त्रियधनहरणरता अगृहीतधर्मा दुराचाराः ॥

ण मुणंति सयं धम्मं अमुणियतच्चत्थयारपब्भट्टा ।
पउरकसाया माई कह अण्णेसिं फुडं बिंति ॥ १८१ ॥

न जानन्ति स्वयं धर्मं अमुनिततत्वार्थाचारप्रभृष्टाः
प्रचुरकषाया मायाविनः कथं अन्यान् स्फुटं ब्रुवन्ति ॥

रंडा मुंडा थंडी[1] सुंडी दिक्खिदा धम्मदारा
सीसे कंता कामासत्ता कामिया सा वियारा[2] ।
मज्जं मंसं मिट्ठं भक्खं भक्खियं जीवसोक्खं[3] च ।
कउले धम्मे विसये रम्मे तं जि हो सग्गमोक्खं[4] ॥१८२॥

रंडा मुण्डा स्थण्डी शौंडी दीक्षिता धर्मदाराः
शिष्या कान्ता कामासक्ता कामिता सा विकारा ।
मद्यं मांसं मिष्टं भक्ष्यं भक्षितं जीवसुखं च ।
कपिले धर्मे विषये रम्ये तेनैव भवतः ? स्वर्गमोक्षौ ॥

रत्तामत्ता कंतासत्ता[5] दूसियाधम्ममग्गा
दुट्ठा कट्ठा धिट्ठा झुट्ठा[6] णिंदिजोमोक्खमग्गा[7] ।
अक्खे सुक्खे अग्गे दुक्खे णिब्भरं दिण्णचित्ता
घोरइयाणं दुक्खट्टाणं तस्स सिस्सा पउत्ता ॥ १८३ ॥

रक्तमत्ताः कान्तासक्ता दूषितधर्ममार्गाः
दुष्टा कष्टा धृष्टा अनृतवादिनः निन्दितमोक्षमार्गाः ।

१ चंडी ख । २ वियरो. क । ३ जीहसुखं. ख । ४ जिहो मोक्खसोक्खं. ख । ५ कामा ख । ६ डु क । ७ या ख ।

आक्षे सुखे अग्रे दुःखे निर्भ्रान्तं दत्तचित्ताः

नारकाणां दुःखस्थानं तस्य शिष्याः प्रोक्ताः ॥

मज्जे धम्मो मंसे धम्मो जीवहिसाइं धम्मो।

राई देवो दोसी[1] देवो माया सुंण्णं[2] पि देवो

रत्तामत्ता कंतासत्ता जे गुरु ते वि य पुज्जा

हाहा कट्ठं णट्ठो लोओ[3] अट्टमट्टं कुणंतो ॥ १८४ ॥

मद्ये धर्मो मांसे धर्मो जीवहिंसायां धर्मः।

रागी देवो दोषी देवो माया शून्यमपि देवः।

रक्तमत्ताः कान्तासक्ता ये गुरवस्तेऽपि च पूज्याः

हाहा कष्टं नष्टो लोकः अट्टमट्टं कुर्वन् ॥

धूयमायरिवहिणि अंण्णावि[4] पुत्तत्थिणि।

आयति य वासवयणुपयडे वि विप्पें।

जह रमियकामाउरेण वेयगव्वे उप्पण्णदप्पें ॥

वंभणि-छिंपिणि-डोंवि-नडिय-वरुडि-रज्जइ-चम्मारि।

कवले समइ समागमइ[5] तह[6] भुत्ति य परणारि ॥१८५॥[7]

दुहितामातृभगिन्य अन्या अपि पुत्रार्थिनी।

आयाति च व्यासवचनं प्रकटयति विप्रेण।

यथा रमिता कामातुरेण वेदगर्वेणोत्पन्नदर्पेण ॥

ब्राह्मणी-डोम्बी-नटी-वरुटी-रजकी-चर्मकारी।

कपिले समये समागच्छन्ती तथा भुक्ता च परनारी ॥

---

१ रो. ख। २ पु. ख। ३ ला. क। ४ ण्ण. क। ५ समागइ य। ६ य. क। ७ अस्मादाग्रेऽयं श्लोको वर्तते।

स्वयमेवागतां नारीं यो न कामयते नरः।

ब्रह्महत्या भवेत्तस्य पूर्वंब्रह्माब्रवीदिदम् ॥ १ ॥

अण्णाणधम्मलग्गो जीवो दुक्खाण पूरिओ होइ ।
चउगइ गईहिं णिवडइ संसारे भमिहि हिंडंतो ॥ १८६ ॥
अज्ञानधर्मलग्नो जीवो दुःखानां पूरितो भवति ।
चतुर्गतौ गतिभिः निपतति संसारे भ्रमति हिण्डन् ॥

जह पाहाणतरंडे लग्गो पुरिसो हु तीरणीतोए ।
वुड्डइ विगयाधारो णिवडेइ महण्णवावत्ते ॥ १८७ ॥
यथा पाषाणतरण्डे लग्नः पुरुषो हि तीरणीतोये ।
ब्रुडति विगताधारः निपतति महार्णवावर्ते ॥

कुच्छियगुरुकयसेवा विविहावइपउरदुक्खआवत्ते ।
तह य णिमज्जइ पुरिसो संसारमहोवही भीमे ॥ १८८ ॥
कुत्सितगुरुकृतसेवा विविधातिप्रचुरदुःखावर्ते ।
तथा च निमज्जति पुरुषः संसारमहोदधौ भीमे ॥

वयभट्टकुंठरुद्देहिं णिट्ठुरणिक्किट्ठदुट्ठचिट्ठेहिं ।
अप्पाणं णासित्ता अण्णो वि य णासिओ लोगो ॥ १८९ ॥
व्रतभ्रष्टकुंठरुद्रैः निष्ठुरनिकृष्टदुष्टचेष्टैः ।
आत्मानं नाशयित्वा अन्योऽपि च नाशितो लोकः ॥

इय अण्णाणी पुरिसा कुच्छियगुरुकहियमग्गसंलग्गा ।
पावंति णरयतिरयं णाणादुहसंकडं भीमं ॥ १९० ॥
इति अज्ञानिनः पुरुषाः कुत्सितगुरुकथितमार्गसंलग्नाः ।
प्राप्नुवंति नरकतिर्यंचं नानादुःखसंकटं भीमं ॥

एवं णाऊण फुडं सेविज्जइ उत्तमो गुरू कोई ।
वहिरंतरगंथचुओ तिरियणवंतो सुणाणी य ॥ १९१ ॥

---

५ रो ख ।

एवं ज्ञात्वा स्फुटं सेव्यते उत्तमो गुरुः कश्चित्।
बाह्यान्तर्ग्रन्थच्युतः तरणवान् सुज्ञानी च ॥

जहजायलिंगधारी विसयविरत्तो य णिहयसकसाओ।
पालियदिढबंभवओ सो पावइ उत्तमं सोक्खं ॥ १९२ ॥

यथाजातलिंगधारी विषयविरक्तश्च निहतस्वकषायः।
पालितदृढब्रह्मव्रतः स प्राप्नोति उत्तमं सौख्यं ॥

तें कहियधम्मि लग्गा पुरिसा डहिऊण सकयपावाइं।
पावंति मोक्खसोक्खं केई विलसंति सग्गेसु ॥ १९३ ॥

तेन कथितधर्मे लग्नाः पुरुषा दग्ध्वा स्वकृतपापानि।
प्राप्नुवन्ति मोक्षसौख्यं केचित् विलसन्ति स्वर्गेषु ॥

एवं मिच्छादिट्ठीठाणं कहियं मया समासेण।
एत्तो उड्ढं वोच्छं विदियं पुण सासणं णामं ॥ १९४ ॥

एवं मिथ्यादृष्टिस्थानं कथितं मया समासेन।
इत ऊर्ध्वं वक्ष्ये द्वितीयं पुनः सासादनं नाम ॥

मिच्छत्तं—इति मिथ्यात्वगुणस्थानम्।

एयदरस्स[2] उदए अणंतबंधिस्स संपरायस्स।
समयाइछावलित्ति य एसो कालो समुद्दिट्ठो ॥ १९५ ॥

एकतरस्योदयेऽनन्तानुबन्धिनः साम्परायस्य।
समयादिषडावलीति च एषः कालः समुद्दिष्टः ॥

एयं[3]म्मि गुणट्ठाणे कालो णत्थित्ति तित्तिओ जम्हा।
तम्हा वित्थारो ण हि संखेओ तेण सो उत्तो ॥ १९६ ॥

---

१ नायं पाठः उभय पुस्तके। २ एयदरस्सु उदएणय–ख.। ३ ख–पुस्तके १९६ गाथाया स्थाने १९७ गाथा, अस्याः स्थाने १९२ गा.। ४ इह ख।

एतस्मिन् गुणस्थाने कालो नास्ति तावन्मात्रः यस्मात् ।
तस्माद्विस्तारो न हि संक्षेपेण तेन स उक्तः ॥

परिणामियभावगयं विदियं सासायणं गुणट्ठाणं ।
सम्मत्तसिहरपडियं अपत्तमिच्छत्तभूमितलं ॥ १९७ ॥

पारिणामिकभावगतं द्वितीयं सासादनं गुणस्थानं ।
सम्यक्त्वशिखरपतितं अप्राप्तमिथ्यात्वभूमितलं ॥

सासायणसम्मत्तं–इति सासादनसम्यक्त्वम् ।

सम्मामिच्छुदएण य सम्मिस्सं णाम होइ गुणठाणं ।
खयउवसमभावगयं अंतरजाई समुद्दिट्ठं ॥ १९८ ॥

सम्यक्त्वमिथ्यात्वोदयेन च संमिश्रं नाम भवति गुणस्थानं ।
क्षयोपशमभावगतं अन्तरजाति समुद्दिष्टं ॥

वडवाए उप्पण्णो खरेण जह हवइ इत्थ वेसरओ ।
तह तं सम्मिस्सगुणं अगहियगिहसयलसंजमणं ॥ १९९ ॥

वडवायां उत्पन्नः खरेण यथा भवति अत्र वेसरः ।
तथा स सम्मिश्रगुणः अगृहीतगृहिसकलसंयमः ॥

तत्थ ण बंधइ आउं कुणइ ण कालो हु तेण भावेण ।
सम्मं वा मिच्छं वा पडिवज्जिय मरइ णियमेण ॥ २०० ॥

तत्र न बध्नाति आयुः करोति न कालो हि तेन भावेन ।
सम्यक्त्वं वा मिथ्यात्वं वा प्रतिपद्य म्रियते नियमेन ॥

अट्टरउद्दं झायइ देवा सव्वे वि हुंति णमणीया ।
धम्मा सव्वे पवरा गुणागुणं किं पि ण विणिएइ ॥२०१॥

आर्तं रौद्रं ध्यायति देवाः सर्वेऽपि भवन्ति नमनीयाः ।
धर्माः सर्वे प्रवरा गुणागुणौ किमपि न विजानाति ॥

अत्थि जिणायमि कहियं वेए कहियं च हरिपुराणे वा ।
सइवागमेण कहियं तच्चं कविलेण कहियं च ॥ २०२ ॥

अस्ति जिनागमे कथितं वेदे कथितं च हरिपुराणे वा ।
शैवागमेन कथितं तत्वं कपिलेन कथितं च ॥

वंभो करेइ तिजयं किण्हो पालेइ उयरि छुहिऊणं ।
रुद्दो संहरइ पुणो पलयं काऊण णिस्सेसं ॥ २०३ ॥

ब्रह्मा करोति त्रिजगत् कृष्णः पालयति उपरि स्पृशित्वा । ?
रुद्रः संहरति पुनः प्रलयं कृत्वा निःशेषं ॥

जइ वंभो कुणइ जयं तो किं सग्गिदरज्जकज्जेण ।
चइऊण वंभलोयं उग्गतवं तवइ णरलोए ॥ २०४ ॥

यदि ब्रह्मा करोति जगत्तर्हि किं स्वर्गेन्द्रराज्यकार्येण ।
च्युत्वा ब्रह्मलोकं उग्रतपः तप्यते नरलोके ॥

जरउ[1]द्दसेयअंडय सव्वे एयाइं भूयगामाइं ।
णारयणरतिरियसुरा णिवंदियं [2]वणिसुद्दपहुईया ॥ २०५ ॥

जरायुजोद्भित्स्वेदाण्डजान् सर्वान् एतान् भूतग्रामान् ।
नारकनरतिर्यक्सुरान् वंदिनः (?) वणिक्छूद्रप्रभृतीन् ॥

चंडालडूंवधीवरवरुडाकल्लालछिंपिया चेव ।
हयगयगोमहिसिखरा वग्घकिडीसीहहरिणाइं ॥२०६॥

चाण्डालडोम्बधीवरवरुटकलवारछिंपकाश्चैव ।
हयगजगोमहिषीखरान् व्याघ्रकिटिसिंहहरिणान् ॥

1 य. ख । 2 वणियवद्दिणिसुपहुईय. क ।

णाणा[1]कुलाइं जाई णाणाजोणी य अउविहवाइं ।
णाणादेहगयाइं वण्णा रूवाइं विविहाइं ॥ २०७ ॥

नानाकुलानि जातीः नानायोनींश्च आयुर्विभवादीनि ।
नानादेहगतान् वर्णान् रूपाणि विविधानि ॥

गिरिसरिसायरदीवो गामारामाइं धरणि आयासं ।
जो कुणइ खणद्धेणं चिंतियमित्तेण सव्वाइं ॥ २०८ ॥

गिरिसरित्सागरद्वीपान् ग्रामारामान् धरणीमाकाशं ।
यः करोति क्षणार्धेन चिन्तितमात्रेण सर्वान् ॥

किं सो रज्जणिमित्तं तवसा तावेइ णिच्च णियदेहं ।
तिहुवणकरणसमत्थो किं ण कुणइ अप्पणो रज्जं ॥ २०९ ॥

किं स राज्यनिमित्तं तपसा तापयति नित्यं निजदेहं ।
त्रिभुवनकरणसमर्थः किं न करोति आत्मनो राज्यं ॥

अच्छरतिलोत्तमाए णट्टं दट्ठूण रायरसरसिओ ।
तवभट्टो चउवयणो जाओ सो मयणवसचित्तो ॥ २१० ॥

अप्सरस्तिलोत्तमाया नृत्यं दृष्ट्वा रागरसरसिकः ।
तपोभ्रष्टः चतुर्वदनः जातः स मदनवशचित्तः ॥

छंडिय णियवड्डुत्तं[2] पहुत्तणं देवत्तणं[3] तवोचरियं ।
कामाउरो अलज्जो लग्गो मग्गेण सो तिस्स ॥ २११ ॥

त्यक्त्वा निजवृहत्वं प्रभुत्वं देवत्वं तपश्चर्यं ।
कामातुरः अलज्जः लग्नः मार्गेण स तस्याः ॥

हसिओ सुरेहिं कुद्दो (ड्ढो) खरसीसो भखिउं पउत्तो सो ।
संकरकरखुडियसिरो विरहपलित्तो णियत्तो य ॥ २१२ ॥

---

१ णाणाकुलजाइ तहा–ख. । २ भाषायां वडप्पन इति लक्ष्यते । ३ पहुत्त-देवत्तणं ख ।

हसितः सुरैः क्रुद्धः खरशीर्षं भक्षितुं प्रवृत्तः सः।
शंकरकरखंडितशिरः विरहापलितो निवृत्तश्च ॥

पविसेवि[1] णिज्जणवणं पिछिवि रिछी विरहिगओ तत्थ।
सेवइ कामासत्तो तिलोत्तमा चित्ति धरिऊणं ॥ २१३ ॥

प्रविश्य निर्जनवनं दृष्ट्वा ऋक्षीं विरहगतः तत्र।
सेवते कामासक्तः तिलोत्तमां चेतसि धृत्वा ॥

तस्सुप्पण्णो पुत्तो जंवउ[2] णामेण लोयविक्खाओ।
रिंछाण पई[3] जाओ भिच्चो सो रामएवस्स ॥ २१४ ॥

तस्योत्पन्नः पुत्रो जम्बूः नाम्ना लोकविख्यातः।
ऋक्षाणां पतिः जातः भृत्यः स रामदेवस्य ॥

जो कुणइ जयमसेसं सो किं एक्का वि तारिसी महिला।
सक्कइ ण विरइऊणं किं सेवइ णिग्घिणो रिच्छी ॥२१५॥

यः करोति जगदशेषं स किं एकामपि तादशीं महिलां।
शक्नोति न विरचितुं किं सेवते निघृणः ऋक्षीं ॥

वस्तुछन्दः।

जो तिलोत्तम जो तिलोत्तम णियवि णच्चंति।
वम्मह सरजरजरिउ चत्तणियमु चउवयणु जायउ।
वणि णिवसइ परिभट्टतउ रमइ रिच्छि सुरयाण रायउ॥
सो विरंचि कह संभवइ तयलोयउ कत्तारु।
जो[4] अप्पा हु ण उत्तरइ फेडउ विरहवियारु ॥ २१६ ॥

यः तिलोत्तमां यः तिलोत्तमां दृष्ट्वा नृत्यन्तीं।
ब्रह्मा स्मरजर्जरितः त्यक्तनियमः चतुर्वदनः जातः।
वने निवसति परिभ्रष्टतपाः रमते ऋक्षीं सुराणां राजा ॥

---

१ इ. ख.। २ जंवु ख। ३ हु ख। ४ जो अप्पाण हु ण उतरइ फेडइ ख।

स विरंचिः कथं संभवति त्रिलोकस्य कर्ता ।
य आत्मानं हि न तारयति स्फेटयति विरहविकारं ॥

णत्थि धरा आयासं पवणाणलतोयजोयससिसूरा ।
जइ तो कत्थ ठिदेणं वंभा रइयं तिलोओत्ति ॥ २१७ ॥

न सन्ति धरा आकाशं पवनानलतोयज्योतिःशशिसूर्याः ।
यदि तर्हि कुत्र स्थितेन ब्रह्मणा रचितः त्रिलोक इति ॥

कत्तित्तं पुण दुविहं वत्थुअ कत्तित्त तह य विक्किरियं ।
घडपडगिहाइ पढमं विक्किरियं देवयारइयं ॥ २१८ ॥

कर्तृत्वं पुनः द्विविधं वस्तुनः कर्तृत्वं तथा च वैक्रियिकं ।
घटपटगृहादि प्रथमं वैक्रियिकं देवतारचितं ॥

जइ तो वत्थुब्भूओ रइओ लोओ विरिंचिणा तिविहो ।
तो तस्स कारणाइं कत्थुवलद्धाइं दव्वाइं ॥ २१९ ॥

यदि स वस्तुभूतो रचितो लोको विरांचिना त्रिविधः ।
तर्हि तस्य कारणानि कुत्र लब्धानि द्रव्याणि ॥

अह विक्किरिओ रइओ विज्जाथामेण तेण वंभेण ।
कह थाइ दीहकालं अवत्थुभूओ अणिच्चोत्ति ॥ २२० ॥

अथ विक्रियारचितो विद्यास्थाम्ना तेन ब्रह्मणा ।
कथं तिष्ठति दीर्घकालं अवस्तुभूतोऽनित्य इति ॥

तम्हा ण होइ कत्ता वंभो सिरछेयविनडणं पत्तो ।
छलिओ तिलोत्तमाए सामण्णपुरिसुव्व असमत्थो ॥२२१॥

तस्मान्न भवति कर्ता ब्रह्मा शिरश्छेदविनटनं प्राप्तः ।
छलितस्तिलोत्तमया सामान्यपुरुष इवासमर्थः ॥

---

१ म्हा ख । २ ओ. ख । ३ णा ख । ४ णा. ख । ५ सिरछेयणिवडाणं पत्तो क ।

जो परमहिलाकज्जे छंडइ वडुत्तणं तओ णियमं ।
सो ण हवइ परमप्पा कह देवो हवइ पुज्जो य ॥ २२२ ॥
य: परमहिलाकार्येण त्यजति बृहत्त्वं तपो नियमं ।
स न भवति परमात्मा कथं देवो भवति पूज्यश्च ॥
सुपरिक्खिऊण तम्हा सुगवेसहं को वि परमबंभाणो ।
दहअट्ठदोसरहिओ वीयराओ परो णाणी ॥ २२३ ॥
सुपरीक्ष्य तस्मात् सुगवेषय कमपि परमब्रह्माणं ।
दशाष्टदोषरहितं वीतरागं परं ज्ञानिनं ॥
किण्हो[1] जइ धरइ जयं सूवररूवेण दाढअग्गेण ।
ता सो कहिं ठवइ पेए[2] कुम्मे कुम्मो वि कहिं ठाइं ॥२२४॥
कृष्णो यदि धारयति जगत् शूकररूपेण दंष्ट्राग्रेण ।
तर्हि स कुत्र तिष्ठति पदे कूर्मे कूर्मोऽपि कुत्र तिष्ठति ॥
अह छुहिऊण सउअरो तिजयं पालेइ महुमहो णिच्चं ।
किं सो तिजयवहित्थो तिजयवहित्थेण किं जाओ ॥ २२५ ॥
अथ स्पर्शित्वा शूकरं (?) त्रिजगत् पालयति मधुमदः नित्यं ।
किं स त्रिजगद्बहिस्थः त्रिजगद्बहिस्थेन किं जातं ॥
जइया दहरहपुत्तो रामे (मो) णिवसेइ दंडरण्णम्मि ।
लंकाहिवेण छलिओ हरिया भज्जा पवंचेण ॥ २२६ ॥
यत्र च दशरथपुत्रो रामो निवसति दण्डकारण्ये ।
लंकाधिपतिना छलित: हृता भार्या प्रपंचेन ॥
विरहेण रुवइ विलवइ पडेइ उट्ठेइ णिंयइ[3] सोएइ ।
णउ मुणइ केण णाया पुच्छइ वणसावयाँ[4] मूढो ॥ २२७ ॥

१ न्हो ख। २ ठइपए क। ३ व. क। ४ अस्मादग्रेऽयं श्लोकः ख-पुस्तके। (अग्रे)

विरहेण रोदिति विलपति पतति उत्तिष्ठति पश्यति स्वपिति।
न हि मनुते केन ज्ञातः पृच्छति वनशावकान् मूढः ॥

जइ उवरत्थं तिजयं ता सो किं तत्थ वाणरा रिच्छा।
मेलाविऊण उवही बंधइ सेलेहिं सेउत्ति ॥ २२८ ॥

यदि उपरि स्थितः त्रिजगतः तर्हि स किं तत्र वानरान् ऋक्षान्।
मेलापयित्वा उदधेः बध्नाति शैलैः सेतुमिति ॥

किं पट्ठवेइ[1] दूवं जंपइ किं सामभेयदंडाइं।
अलहंतो किं जुज्जइ कोवं काऊण सत्थेहिं ॥ २२९ ॥

किं प्रस्थापयति दूतं जल्पति किं सामभेददण्डानि।
अलभमानः किं युद्ध्यति कोपं कृत्वा शस्त्रैः ॥

किं दहवयणो सीया गहिऊणं उवरबाहिरे थक्को।
जं हेलाइं ण तरइ रिउ हणिउं आणिउं भज्जा ॥ २३० ॥

किं दशवदनः सीतां गृहीत्वा ....बहिः स्थितः।
यत् हेलया न शक्नोति रिपुं हत्वा आनेतुं भार्यां ॥

जइ तिजयपालणत्थे संजाया तस्स एरिसी सत्ती।
तो किं तिजयं दड्ढं हरो(रे)णं[2] संपिच्छमाणस्स ॥ २३१ ॥

यदि त्रिजगत्पालनार्थे संजाता तस्यैतादृशी शक्तिः।
तर्हि किं जिगत् दग्धं हरेण संप्रेक्षमाणस्य ॥

जो ण जाणइ जो ण जाणइ हरिय णियभज्ज।
पुच्छइं वणसावयइं अह भुणेइ आणउं ण सक्कइ।

भो भो भुजंग! तरुपल्लवलोलजिह्व बन्धूकपुष्पदलसन्निभलोहितांक्ष।
पृच्छामि ते पवनभोजिन् कोमलाङ्गी काचित्त्वया शरदचन्द्रमुखी न दृष्टा ॥१॥

१ किं पट्ठावइ दूओ ख। २ हरिणे ख।

बंधेइ सायरु गिरिहिं पेसिऊण तहिं पवरभिच्चइं ॥
तासु उवरि णारायणहो किमु तिहुवणु णिवसेइ ।
जो वारवइ विणासियहो रक्खहु णा हिं तरेइ ॥ २३२ ॥

यो न जानाति यो न जानाति हर्तारं निजभार्यायाः ।
पृच्छति वनशावकान् अथ जानाति आनेतुं न शक्नोति ।
बध्नाति सागरं गिरिभिः प्रेषयित्वा तत्र प्रवरभृत्यान् ।
तस्योपरि नारायणस्य (?) किं त्रिभुवनं निवसति ।
यो रिपुं विनाश्य रक्षितुं न हि शक्नोति ।

जो देओ[1] होऊणं माणुसमत्तेहिं पंडुपुत्तेहिं ।
सारइ बोलाइत्तो जुज्झे [2]जेउं कओ तेहिं ॥ ॥ २३३ ॥

यो देवो भूत्वा मनुष्यमात्रैः पाण्डुपुत्रैः ।
सारथिं कथयित्वा युद्धे जेतुं कथितः तैः ॥

तम्हा ण होइ कत्ता किण्हो लोयस्स तिविहभेयस्स ।
मरिऊण वारवारं दहावयारेहिं अवयरइ ॥ २३४ ॥

तस्मान्न भवति कर्ता कृष्णो लोकस्य त्रिविधभेदस्य ।
मृत्वा पुनः पुनः दशावतारैः अवतरति ॥

एवं भणंति केई असरीरो णिक्कलो हरी सिद्धो ।
अवयरइ मच्चलोए देहं गिण्हेइ इच्छाए ॥ २३५ ॥

एवं भणन्ति केचित् अशरीरो निष्कलो हरिः सिद्धः ।
अवतरति मर्त्यलोके देहं गृह्णातीच्छया ॥

जइ तुप्पं णवणीयं णवणीयं पुण वि होइ जइ दुद्धं ।
तो सिद्धि गओ जीवो पुणरवि देहाइं गिण्हेइ ॥ २३६ ॥

---

१ देवं क । २ जिओ कयं क ।

यदि घृतं नवनीतं नवनीतं पुनरपि भवेद्यदि दुग्धं ।
तर्हि सिद्धिगतो जीवः पुनरपि देहादिकं गृह्णाति ॥

रद्धो कूरो पुणरवि खित्ते खित्तो य होइ अंकूरो ।
जइ तो मोक्खं पत्ता जीवा पुण इंति संसारे ॥ २३७ ॥

रद्धः कूरः पुनरपि क्षेत्रे क्षिप्तश्च भवेदंकुरः ।
यदि तर्हि मोक्षं प्राप्ताः जीवा पुनरायान्ति संसारे ॥

जइ णिक्कलो महप्पा विण्हू णिस्सेसकम्ममलचत्तो ।
किं कारणमप्पाणं संसारे पुण वि पाडेइ ॥ २३८ ॥

यदि निष्कलो महात्मा विष्णुः निःशेषस्वकर्ममलच्युतः ।
किं कारणमात्मानं संसारे पुनरपि पातयति ॥

अहवा जइ कलसहिओ लो(इ)यवावारदिण्णणियचित्तो ।
तो संसारी णियमा परपप्पा हवइ ण हु विण्हू ॥ २३९ ॥

अथवा यदि कलसहितो लोकव्यापरदत्तनिजचित्तः ।
तर्हि संसारी नियमात् परमात्मा भवति न हि विष्णुः ॥

इय जाणिऊण णूणं णवणवदोसेहिं वज्जिओ विण्हू ।
सो अक्खइ[1] परमप्पा अणंतणाणी अराई य ॥ २४० ॥

इति ज्ञात्वा नूनं नवनवदोषैर्वर्जितो विष्णुः ।
स कथ्यते परमात्मा अनन्तज्ञानी अरागी च ॥

एवं भणंति केई रुद्दो संहरइ तिहुवणं सयलं ।
चिंतामित्तेण फुडं णरणारयतिरियसुरसहियं ॥२४१॥

एवं भणन्ति केचित् रुद्रः संहरति त्रिभुवनं सकलं ।
चिन्तामात्रेण स्फुटं नरनारकतिर्यक्सुरसहितं ॥

---

१ उच्चेइ ख ।

णट्ठे असेसलोए पच्छा सो कत्थ चिट्ठदे रुद्दो।
इक्को[1] तमंधयारो गोरी गंगा गया कत्थ॥ २४२॥
नष्टेऽशेषलोके पश्चात् स कुत्र तिष्ठति रुद्रः।
एकस्तमोऽन्धकारः (?) गौरी गंगा गता कुत्र॥
जो डहइ एयगामं पावी लोएहिं वुच्चदे सो हु।
जो पुण डहइ तिलो[2]यं सो कह देवत्तणं पत्तो॥ २४३॥
यो दहति एकग्रामं पापी लोकैरुच्यते स हि।
यः पुनः दहति त्रिलोकं स कथं देवत्वं प्राप्तः॥
जो हणइ एयगावी विप्पो वा सो वि इत्थ लोएहिं।
गोबंभहच्चयारी पभणिज्जइ पावकारी सो॥ २४४॥
यः हन्ति एकां गां विप्रं वा सोऽपि अत्र लोकैः।
गोब्रह्महत्याकारी प्रभण्यते पापकारी सः॥
जो पुण गोणारिपमुहे वाले वुड्ढे असंखलोयत्थे।
संहारेइ असेसं तस्सेव हि किं भणिस्सामो॥ २४५॥
यः पुनः गोनारीप्रमुखान् बालान् वृद्धान् असंख्यलोकस्थान्।
संहरति अशेषान् तमेव हि किं भणिष्यामः॥
अहवा जइ भणइ इयं सो देवो तस्स हवइ ण हु पावं।
तो बंभसीसछेए बंभहच्चा कहं जाया॥ २४६॥
अथवा यदि भणतीदं स देवः तस्य भवति न हि पापं।
तर्हि ब्रह्मशिरश्छेदे ब्रह्महत्या कथं जाता॥
किं हड्डमुंडमाला खंधे परिवहइ धूलिधूसरिओ।
परिभमिओ तित्थाइं णरह[3] कवालम्मि भुंजंतो॥ २४७॥

---

१ एको ख.। २ ए ख.। ३ नर ख.।

किं अस्थिमुण्डमालां स्कन्धे परिवहति धूलिधूसरितः ।
परिभ्रमितस्तीर्थानि नरस्य कपाले भुञ्जानः ॥

तह वि ण सा बंभहच्चा फिट्टइ रुद्दस्स जामता गामे ।
वसिओ पलासणणामे ता विप्पो णियवलट्टेण ॥ २४८ ॥

तथापि न सा ब्रह्महत्या स्फिटति रुद्रस्य यावत् ग्रामे ।
उपितः पलाशनाम्नि तत्र विप्रः निजबलत्वेन ? ॥

णिहओ सिंगेण मुओ वसहो सेओ विकसणु संजाओ ।
वाणारसिं च पत्तो रुद्दो वि य तस्स मग्गेण ॥ २४९ ॥

निहतः शृंगेन मृतः वृषभः श्वेतः कृष्णः संजातः ।
वाराणसीं प्राप्तः रुद्रोऽपि च तस्य मार्गेण ॥

गंगाजलं पविट्ठा चत्ता ते दो वि बंभहच्चाए ।
रुद्दस्स करयलाओ तइयं पडियं कवालोत्ति ॥ २५० ॥

गंगाजले प्रविष्टौ त्यक्तौ तौ द्वावपि ब्रह्महत्यया ।
रुद्रस्य करे लग्नं तत्र पतितं कपालमिति ॥

जस्स गुरू सुरहिसुओ गंगातोएण फिट्टए हच्चा ।
सो देवो अण्णस्स य फेडइ कह संचियं पावं ॥ २५१ ॥

यस्य गुरुः सुरभिसुतः गंगातोयेन स्फिट्यते हत्या ।
स देवोऽन्यस्य च स्फेटयति कथं संचितं पापं ॥

जो ण तरइ[1] णियपावं गहियवओ अप्पणस्स फेडेउं ।
असमत्थो सो णूणं कत्तित्तविणासणे रुद्दो ॥ २५२ ॥

यो न शक्नोति निजपापं गृहीतव्रतः आत्मनः स्फेटयितुं ।
असमर्थः स नूनं कर्तृत्वविनाशने रुद्रः ॥

---

१ शकेस्तरतीरपारचआः इत्यनेन शकेस्तरआदेशः ति प्रत्यये सति तरइ इति ।

णो बंभा कुणइ जयं किण्हो ण धरेइ हरइ णउ रुद्दो।
एसो सहावसिद्धो णिच्चो दव्वेहिं संछण्णो ॥ २५३ ॥

न ब्रह्मा करोति जगत् कृष्णः न धरति हरति न च रुद्रः।
एष स्वभावसिद्धः नित्यः द्रव्यैः संछन्नः ॥

वस्तुच्छन्दः।

भमइ णग्गउ भमइ णग्गउ[1] वसइ सुमसाणि।
णररुंडसिरमंडियउ, णरकवालि भिक्खाइं भुंजेइ[2]।
सहयारिउ गउरियहिं दुक्खभारु अप्पहो णिउंजइ ॥
जो बंभणेहं सिरकमले खुडिए न फेडइ दोसु।
सो इसरु कह अवहरइ तिहुवणु करइ असेसु ॥२५४॥

भ्रमति नग्ने भ्रमति नग्ने वसति श्मशाने।
नररुण्डशिरोमण्डितः नरकपाले भिक्षां भुनक्ति।
सहकृतः गौरिभिः दुःखभारे आत्मानं नियुंक्ते ॥
यो ब्रह्मणः शिरःकमले खंडिते न स्फेटयति दोषं।
स ईश्वरः कथमपहरति त्रिभुवनं करोति अशेषं ॥

वस्तुच्छदः।

उत्तरंतउ उत्तरंतउ पवरसुरसरिहिं।
पारासुर[3] चलिउ मणु मुएं[4] लज्जकेवट्टणंदिणि।
आलिंगिय तपहेउ वरिवासजाउ तावसु महामुणि।
भारहु पुणु हुउ दोवहिं केसग्गहपव्वेण।
जिणु [6]मिल्लिवि के केण जगिं णिवडिय चवलमणेण ॥२५५॥

---

१ णग्गउ समइ क.। २ विभुंजइ। ३ पानासुतु क.। ४ य. क।५ इ. ख।
६ मोलिवि क।

अण्णाणि य रइयाइं एत्थ पुराणाइं अघडमाणाइं ।
सिद्धंतेहिं अजुत्तं पुव्वावरदोससंकिण्णं[1] ॥ २५६ ॥

अन्यानि च रचितान्यत्र पुराणानि अघटमानानि ।
सिद्धान्तैरयुक्तं पूर्वापरदोपसंकीर्णं ॥

एएं[2] उत्ते देवे सव्वे सद्दहइ जो पुराणेहिं ।
अरिहंता[3] परिचाए सम्मामिच्छोत्ति णायव्वो ॥ २५७ ॥

एतानुक्तान् देवान् सर्वान् श्रद्दधाति यः पुराणैः ।
अर्हतः परित्यज्य सम्यङ्मिथ्यात्वं इति ज्ञातव्यः ॥

एसो सम्मामिच्छो परिहरियव्वो हवेइ णियमेण ।
एत्तो अविरई[4]सम्मो कहिज्जमाणो णिसामेह ॥ २५८ ॥

एतत्सम्यग्मिथ्यात्वं परिहर्तव्यं भवति नियमेन ।
इत अविरतसम्यक्त्वं कथयिष्यमाणं निशृणुत ॥

इति मिश्रगुणस्थानम् ।

हवइ चउत्थं ठाणं अविरइं[5]सम्मोत्ति णामयं भणियं ।
तत्थ हु खइओ भावो खयउवसमिओ समो[6] चेव ॥ २५९ ॥

भवति चतुर्थं स्थानमविरतसम्यक्त्वमिति नामकं भणितं ।
तत्र हि क्षायिको भावः क्षायोपशमिकः शमश्चैव ॥

---

१ अस्मादग्रेऽयं पाठः ख-पुस्तके । उक्तं च—

ब्रह्मा अल्पायुषोऽयं हरिर्विधिवशाद्गोपतिर्गर्भवासे
चन्द्रः क्षीणप्रतापी भ्रमति दिनकरो देवमिथ्याभिमानी ।
कामः कायाविहीनश्चलगतिपवनो विश्वकर्मा दरिद्री
इन्द्राद्या दुःखपूर्णाः सुखनिधिसुभगः पातुः नः पार्श्वनाथः ॥१॥

२ एए देवा सव्वे सद्दहइ य कोइ पुराणेहिं ख । ३ तो. क । ४-५ य ख ।
६ उवसमो. क ।

एए तिण्णि वि भावा दंसणमोहं पडुच्च भणिआ हु ।
चारित्तं णत्थि जदो अविरयअंतेसु ठाणेसु ॥ २६० ॥

एते त्रयोऽपि भावा दर्शनमोहं प्रतीत्य भणिता हि ।
चारित्रं नास्ति यतः अविरतान्तेषु स्थानेषु ॥

णो इंदिएसु विरओ णो जीवे थावरे तसे वा वि ।
जो सद्दहइ जिणुत्तं अविरइसम्मोत्ति णायव्वो ॥ २६१ ॥

नो इन्द्रियेषु विरतो नो जीवे स्थावरे त्रसे वापि ।
यः श्रद्धाति जिनोक्तं अविरतसम्यक्त्व इति ज्ञातव्यः ॥

हिंसारहिए धम्मे अट्ठारहदोसवज्जिए देवे ।
णिग्गंथे पव्वयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥ २६२ ॥

हिंसारहिते धर्मे अष्टादशदोषवर्जिते देवे ।
निर्ग्रन्थे प्रवचने श्रद्धानं भवति सम्यक्त्वं ॥

संवेओ णिव्वेओ णिंदा गरुहाइं उवसमो भत्ती ।
वच्छल्लं अणुकंपा अट्ठगुणा होंति सम्मत्ते ॥ २६३ ॥

संवेगो निर्वेगो निन्दा गर्हा उपशमो भक्तिः ।
वात्सल्यं अनुकम्पा अष्टौ गुणा भवन्ति सम्यक्त्वे ॥

---

१ अस्य गाथासूत्रस्येयं ख–पुस्तके व्याख्या वर्तते—

धर्मे सानुरागता संवेगः १। शरीरादिविषये सदा विरागता निर्वेगः (दः) २। आत्मसाखि(क्षि)निन्दाकरणं निन्दा ३। गुरुसाखि (क्षि) कृतदोषनिराकरणं गरुहा (गर्हा) ४। क्रोधादिपंचविंशतिकषायपरित्यजनमुपशमः ५। दर्शनज्ञानचारित्रतपोविन्यकरणं भक्तिः ६। व्रतधारणकारण वात्सल्यं वत्सलता ७। षट्जीर्वानिकायस्य दयाकारणमनुकम्पा ८।

दुविहं[1] तं पुण भणियं अहवा तिविहं कहंति आयरिया ।
आणाए अधिगमे वा सद्दहणं जं पयत्थाणं ॥ २६४ ॥
द्विविधं तत्पुनः भणितं अथवा त्रिविधं कथयन्त्याचार्याः ।
आज्ञया अधिगमेन वा श्रद्धानं यत् पदार्थानां ॥

खयउवसमं च खइयं उवसमसम्मत्त पुणु च उद्दिट्ठं ।
अविरइ विरयाणं पि य विरयाविरयाण ते हुंति ॥ २६५ ॥
क्षयोपशमं च क्षायिकं उपशमं सम्यक्त्वं पुनश्चोद्दिष्टं ।
अविरतानां विरतानामपि च विरताविरतानां तानि भवन्ति ॥

कोहचउक्कं पढमं अणंतवंधीणिणामयं भणियं ।
सम्मत्तं मिच्छत्तं सम्मामिच्छत्तयं तिण्णि ॥ २६६ ॥
क्रोधचतुष्कं प्रथमं अनन्तानुवन्धिनामकं भणितं ।
सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं सम्यग्मिथ्यात्वं त्रीणि ॥

एएसिं सत्तण्हं उवसमकरणेण उवसमं भणियं ।
खयओ खइयं जायं अचलत्तं णिम्मलं सुद्धं ॥ २६७ ॥
एतेषां सप्तानामुपशमकरणेन उपशमं भणितं ।
क्षयतः क्षायिकं जातं अचलत्वं निर्मलं शुद्धं ॥

उदयाभाओ[2] जत्थ य पयडीणं ताण सव्वघादीणं ।
छण्णाण उवसमो वि य उदओ सम्मत्तपयडीए ॥ २६८ ॥
उदयाभावो यत्र च प्रकृतीनां तासां सर्वघातिनीनां ।
षण्णां उपशमोऽपि च उदयः सम्यक्त्वप्रकृतेः ॥

खयउवसमं पउत्तं सम्मत्तं परमवीयराएहिं ।
उवसमियपंकसरिसं णिच्चं कम्मक्खवणहेउं ॥ २६९ ॥
क्षयोपशमं प्रोक्तं सम्यक्त्वं परमवीतरागैः ।
उपशमितपंकसदृशं नित्यं कर्मक्षपणहेतुः ॥

---

१ तिविहं क । २ वो. ख ।

जो ण हि मण्णइ एयं खयउवसमभावजो य सम्मत्तं ।
सो अण्णाणी मूढो तेण ण णायं समयसारं ॥ २७० ॥

यो न हि मन्यते एतत् क्षयोपशमभावजं च सम्यक्त्वं ।
स अज्ञानी मूढस्तेन न ज्ञातं समयसारं ॥

जम्हा पंचपहाणा भावा अत्थित्ति सुत्तणिद्दिट्ठा ।
तम्हा खयउवसमिए भावे जायं तु तं जाणे ॥ २७१ ॥

यस्मात् पंचप्रधाना भावाः सन्तीति सूत्रनिर्दिष्टाः ।
तस्मात् क्षयोपशमेन भावेन जातं तु तत् ज्ञातव्यं ॥

तं सम्मत्तं उत्तं जत्थ पयत्थाण होइ सद्दहणं ।
परमप्पह[1]कहियाणं परमप्पा दोसपरिचत्तो ॥ २७२ ॥

तत्सम्यक्त्वमुक्तं यत्र पदार्थानां भवति श्रद्धानं ।
परमात्मकथितानां परमात्मा दोषपरित्यक्तः ॥

दोसा छुहाइ भणिया अट्ठारस होंति तिविहलोयम्मि ।
सामण्णा सयलजणे तेसिमभावेण परमप्पा ॥ २७३ ॥

दोषा क्षुधादयो भणिता अष्टादश भवन्ति त्रिविधलोके ।
सामान्या सकलजने तेषामभावेन परमात्मा ॥

सो पुण दुविहो भणियो सयलो तह णिक्कलुत्ति णायव्वो ।
सयलो अरुहसरूवो सिद्धो पुण णिक्कलो भणिओ ॥ २७४ ॥

स पुनः द्विविधो भणितः सकलस्तथा निष्कल इति ज्ञातव्यः ।
सकलोऽर्हद्रूपः सिद्धः पुनः निष्कलो भणितः ॥

जस्स ण गोरी गंगा कावालं णेव विसहरो कंठे ।
ण य दप्पो कंदप्पो सो अरुहो भण्णए रुद्दो ॥ २७५ ॥

---

१ य ख ।

यस्य न गौरी गंगा कपालं नैव विषधरः कण्ठे।
न च दर्पः कन्दर्पः सोऽर्हन् भण्यते रुद्रः ॥

जस्स ण गया ण चक्कं णो संखो णेय गोविसंघाओ।
णावयरइ[1] दहवयारे सो अरुहो भण्णए विण्हू[2] । २७६ ॥

यस्य न गदा न चक्रं न शंखः नैव गोपीसंघातः।
नावतरति दशावतारे सोर्हन् भण्यते विष्णुः ॥

ण तिलोत्तमाए छलिओ ण य वयभट्ठो ण चउमुहो जादो।
ण य रिछीए रत्तो सो अरुहो वुच्चए बंभो ॥ २७७ ॥

न तिलोत्तमया छलितो न च व्रतभ्रष्टो न चतुर्मुखो जातः।
न ऋक्ष्यां रक्तः सोर्हन् उच्यते ब्रह्मा ॥

तेणुत्तणवपयत्था अण्णो पंचत्थिकायछद्दव्वा।
आणाए अधिगमेण य सद्दहमाणस्स सम्मत्तं ॥ २७८ ॥

तेनोक्तनवपदार्थान् अन्यानि पंचास्तिकायषड्द्रव्यानि।
आज्ञयाधिगमेन च श्रद्दधानस्य सम्यक्त्वं ॥

संकाइदोसरहियं णिस्संकाईगुणज्जुअं परमं।
कम्मणिज्जरणहेउं[3] तं सुद्धं होइ सम्मत्तं ॥ २७९ ॥

शंकादिदोषरहितं निःशंकादिगुणयुतं परमं।
कर्मनिर्जराहेतु तच्छुद्धं भवति सम्यक्त्वं ॥

रायगिहे णिस्संको चोरो णामेण अंजणो भणिओ।
चंपाए णिक्कंखा वणिधूवा णंतमइ णामा ॥ २८० ॥

राजगृहे निःशंकश्चोरो नाम्ना अंजनो भणितः।
चम्पायां निष्कांक्षा वणिक्सुतानन्तमन्ती नाम ॥

---

१ हवइ. ख। २ विन्हू. ख। ३ ओ. क.।

णिव्विदिगिंछो राया उद्दायणो णाम रउरवे णयरे।
रेवइ महुराणयरे अमूढदिट्ठी मुणेयव्वा॥ २८१॥
निर्विचिकित्सो राजा उद्दायनो नाम रौरवे नगरे।
रेवती मथुरानगरे अमूढदृष्टिर्मन्तव्या॥

ठिदिकरणगुणपउत्तो मगहाणयरम्मि वारिसेणो हु।
हत्थिणपुरम्मि णयरे वच्छल्लं विण्हुणा रइयं॥ २८२॥
स्थितीकरणगुणप्रयुक्तो मगधानगरे वारिषेणो हि।
हस्तिनापुरे नगरे वात्सल्यं विष्णुना रचितं॥

उवगूहणगुणजुत्तो जिणदत्तो णाम तामलित्तिणयरीए।
वज्जकुमारेण कया पहावणा चेय महुराए॥ २८३॥
उपगूहनगुणयुक्तो जिनदत्तो नाम ताम्रलिप्तिनगर्यां।
वज्रकुमारेण कृता प्रभावना चैव मथुरायां॥

एरिसगुणअट्ठजुयं सम्मत्तं जो धरेइ दिढचित्तो[2]।
सो हवइ सम्मदिट्ठी सद्दहमाणो पयत्थाण॥ २८४॥
एतादृशाष्टगुणयुक्तं सम्यक्त्वं यो धारयति दृढचित्तः।
स भवति सम्यग्दृष्टिः श्रद्दधानः पदार्थानां॥

ते पुणु जीवाजीवा पुण्णं पावो[3] य आसवो य तहा।
संवर णिज्जरणं पि य बंधो मोक्खो य णव होंति॥ २८५॥
ते पुनः जीवाजीवौ पुण्यं पापश्च आस्रवश्च तथा।
संवरो निर्जरापि च बन्धो मोक्षश्च नव भवन्ति॥

---

१ वरवे. ख.। वसुनन्दिश्रावकाचारे तु रुद्दवरणयरे इति पाठः। रुद्रवरनगरे।
२ अव क. ते. ख.। ३ पुण्णा पावा य क.।

जीवो अणाइ णिच्चो उवओगसंजुदो देहमित्तो य।
कत्ता भोत्ता[1] चेत्ता[2] ण हु मुत्तो सहावउड्ढगई ॥ २८६ ॥

जीवोऽनादिः नित्यः उपयोगसंयुतो देहमात्रश्च।
कर्ता भोक्ता चेतयता न तु मूर्तः स्वभावोर्ध्वगतिः ॥

पाणचउक्कपउत्तो जीवस्सइ जो हु जीविओ पुव्वं।
जीवेइ वट्टमाणं जीवत्तणगुणसमावण्णो ॥ २८७ ॥

प्राणचतुष्कप्रयुक्तः जीविष्यति यो हि जीवितः पूर्वं।
जीवति वर्तमाने जीवत्वगुणसमापन्नः ॥

पज्जाएण वि तस्स हु दिट्ठा आवत्ति[3] देहगहणम्मि।
अधुवत्तं पुण दिट्ठं देहस्स विणासणे तस्स[4] ॥ २८८ ॥

पर्यायेनापि तस्य हि दृष्टा आवृत्तिः देहग्रहणे।
अध्रुवत्वं पुनः दृष्टं देहस्य विनाशने तस्य ॥

सायारो अणयारो उवओगो दुविहभेयसंजुत्तो।
सायारो अट्ठविहो चउप्पयारो अणायारो ॥ २८९ ॥

साकारोऽनाकर उपयोगो द्विविधभेदसंयुक्तः।
साकारोऽष्टविधः चतुष्प्रकारोऽनाकरः ॥

मइसुइउवहिविहंगा अण्णाणजुत्ताणि तिण्णि णाणाणि।
सम्मण्णाणाणि पुणो केवलदिट्ठाणि पंचेव ॥ २९० ॥

मतिश्रुतावधिविभंगानि अज्ञानयुक्तानि त्रीणि ज्ञानानि।
सम्यग्ज्ञानानि पुनः केवलदृष्टानि पंचैव ॥

---

१ भुत्ता ख.। २ वेत्ता ख। ३ इ ख.। ४ इयं ख—पुस्तके २८७ गाथातः पूर्वं।

मइणाणं सुइणाणं उवही मणपज्जयं च केवलयं ।
तिण्णि सया छत्तीसा मई सुयं[1] पुण वारसंगगयं ॥ २९१ ॥

मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिः मनःपर्ययः च केवलं ।
त्रीणि शतानि षट्त्रिंशत् मतिः, श्रुतं पुनः द्वादशाङ्गगतं ॥

देसावहि परमावहि सव्वावहि अवहि होइ तिब्भेया ।
भवगुणकारणभूया णायव्वा होइ णियमेण[2] ॥ २९२ ॥

१ सुयं च वा. क । २ अस्माद्गाथासूत्रादग्रे ख–पुस्तके ईदृक्पाठो वर्तते । अत्र ग्रन्थान्तरादज्ञानत्रयमाह—

अदेवं मन्यते देवमव्रतं मन्यते व्रतं ।
अतत्वे तत्वविज्ञानं कुमतिर्मन्यते बुधैः ॥ १ ॥
सर्वज्ञशासने द्वेष्टा कुशास्त्रेषु सदा रतिः ।
मद्यमांसे बुभुक्षेच्छा श्रुतौ स नरोऽधमः ? ॥ २ ॥

अथ जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे आर्यखण्डे अहिच्छत्रपुरे ब्राह्मणः शिवशर्मा नाम व्रतनियमोपेतो विभंगावधिसंजातः । एकदा पितृपक्षे निजपुत्रस्याज्ञा दत्ता— समीपे न्यग्रोधमाश्रित्य कृष्णमृग एकस्तिष्ठति, मृगं व्यापादयित्वा शीघ्रेणागच्छ हे पुत्र ! । वटुकस्तत्रैव प्राप्तः, मृगसमूहं दृष्ट्वा विस्मयं गतः, पुनर्दिशावलोकनं कृत्वा तस्मिन् स्थाने मुनिं दृष्ट्वा नमस्कारं कृत्वा पृच्छति स्म—भगवन् ! मृगनिचयो युष्मत्पार्श्वे स्थितो मत्पित्रा कथं ज्ञातः ? ज्ञानप्रभावान्मुनिरुक्तवान्—तव पितुर्विभंगावधिः संजातः, असंयमार्थेन जानाति । मुनिवचनं श्रुत्वा स वेगस्तत्रैव गत्वा नमस्कृत्वा जनकमुपविष्टः । स पितरं पृच्छति—तस्मिन् स्थाने किं कोऽपि मानवकः अस्ति ? स कथयति न हि । पुत्रः कथयति—मृगसमूहस्तिष्ठति, कोऽपि यतिरस्ति किं वा नास्तीति ? तद्वचनं श्रुत्वा मुहुर्मुहुरवलोक्य तेनोक्तं एकः स एव तिष्ठति नान्यः कश्चित् । गुरुवचनं श्रुत्वा शीघ्रेण मुनिसमीपं गतः । मुनिपार्श्वे मुनिरभूत् । स्वर्गं गतः । स विप्रो रौद्रेण मृत्वा नरकं गतश्चेति, विभंगावधिश्चेति ।

२९१ गाथासूत्रस्यापि ख–पुस्तके व्याख्या वर्तते । सा चात्र नोद्धृता । तत्वार्थराजवार्तिकादौ यः पाठः ज्ञानानां विषये स एवात्रोल्लिखितः वर्तते, अतः तत्रैवावलोकनीय इति ।

देशावधिः परमावधिः सर्वावधिः अवधिः भवति त्रिभेदः ।
भवगुणकारणभूतः ज्ञातव्यो भवति नियमेन ॥

मणपज्जवं च दुविहं रिउविउलमई तहेव णायव्वं ।
केवलणाणं एक्कं सव्वत्थ पयासयं णिच्चं ॥ २९३ ॥

मनःपर्ययश्च द्विविधः ऋजुविपुलमती तथैव ज्ञातव्यः ।
केवलज्ञानं एकं सर्वत्र प्रकाशकं नित्यं ॥

एसो अट्ठपयारो णाणुवओगो हु होइ सायारो ।
चक्खु अचक्खू ओही केवलसहिओ अणायारो ॥ २९४ ॥

एषोऽष्टप्रकारो ज्ञानोपयोगो हि भवति साकारः ।
चक्षुरचक्षुरवधिः केवलसहितोऽनाकारः ॥

जम्मि भवे जं देहं तम्मि भवे तप्पमाणओ अप्पा ।
संहारवित्थरगुणो केवलणाणीहि उद्दिट्ठो ॥ २९५ ॥

यस्मिन् भवे यो देहः तस्मिन् भवे तत्प्रमाण आत्मा ।
संहारविस्तारगुणः केवलज्ञानिभिः उद्दिष्टः ॥

जो कत्ता सो भुत्ता ववहारगुणेण होइ कम्मस्स ।
ण हु णिच्छएण भणिओ कत्ता भोत्ता य कम्माणं ॥२९६॥

यः कर्ता स भोक्ता व्यवहारगुणेन भवति कर्मणः ।
न तु निश्चयेन भणितः कर्ता भोक्ता च कर्मणां ॥

कम्ममलछाइओ वि य ण मुयइ सो चेयणगुणं किं पि ।
जोणीलक्खगओ वि य जह कणयं कद्दमे खित्तं ॥ २९७ ॥

कर्ममलच्छादितोऽपि च न जानाति चेतनगुणं किमपि ।
योनिलक्षगतोऽपि च यथा कनकं कर्दमे क्षिप्तं ॥

---

१ ण. ख. ।

सुहमो अमुत्तिवंतो वण्णग्गंधाइफासपरिहीणो[1] ।
पुग्गलमज्झिगओ वि य ण य मिल्लइ[2] णिययसब्भावं ॥२९८॥

सूक्ष्मोऽमूर्तिमान् वर्णगन्धादिस्पर्शपरिहीनः ।
पुद्गलमध्यगतोऽपि च न च मुञ्चति निजकस्वभावं ॥

सब्भावेणुड्ढगई[3] विदिसं परिहरिय गइचउक्केण ।
गच्छेइ कम्मजुत्तो सुद्धो[4] पुण रिजुगई जाई ॥ २९९ ॥

स्वभावेनोर्ध्वगतिः विदिशां परिहृत्य गतिचतुष्केन ।
गच्छति कर्मयुक्तः शुद्धः पुनः ऋजुगतिं याति ॥

पाणिविमुत्ता लंगलि वंकगई होइ तह य पुण तइया ।
कम्मइयकायजुत्तो दो तिण्णि य कुणइ वंकाइं ॥ ३०० ॥

पाणिविमुक्ता लांगलिका वक्रगतिः भवति तथा च पुनः तृतीया ।
कार्मणकाययुक्तः द्वित्रीणि करोति वक्राणि ॥

तइए समए गिण्हइ चिरकयकम्मोदएण सो देहं ।
सुरणरणारइयाणं तिरियाणं चेव लेसवसो ॥ ३०१ ॥

तृतीये समये गृह्णाति चिरकृतकर्मोदयेन स देहं ।
सुरनरनारकाणां तिरश्चां चैव लेश्यावशः ॥

सुहदुक्खं भुंजंतो हिंडइ जोणीसु सयसहस्सेसु ।
एइंदियवियलिंदियसयलिंदियपज्जपज्जत्तो ॥ ३०२ ॥

---

१ रूवविवण्णाइं ख. । २ मे. ख. । ३ ससहावेणुड्ढगई ख. । स्वस्वभावेनोर्ध्वगतिः । ४ सिद्धो ख. ।

सुखदुःखं भुञ्जानः हिण्डते योनिषु शतसहस्रेषु ।
एकेन्द्रियविकलेन्द्रियसकलेन्द्रियपर्याप्तापर्याप्तः ।
जीवः ।

होंति अजीवा दुविहा रूवारूवा य रूवि चउभेया ।
खंधं च तहा देसो खंधपदेसो य परमाणू ॥ ३०३ ॥
भवन्ति अजीवा द्विविधा रूप्यरूपाश्च रूपिणश्चतुर्भेदाः ।
स्कन्धश्च तथा देशः स्कन्धप्रदेशश्च परमाणुः ॥
णिहिलावयं च खंधा तस्स य अद्धं च वुच्चदे देसो ।
अद्धद्धं च पदेसो अविभागी होइ परमाणू ॥ ३०४ ॥
निखिलावयवश्च स्कन्धः तस्य चार्धं च उच्यते देशः ।
अर्धार्धं च प्रदेशोऽविभागी भवति परमाणुः ॥
धम्माधम्मागासा अरूविणो होंति तह य पुण कालो ।
गइठाणकारणावि य उग्गाहण वत्तणा कमसो ॥ ३०५ ॥
धर्माधर्माकाशाः अरूपा भवन्ति तथा च पुन कालः ।
गतिस्थानकारणमपि चात्रगाहनस्य वर्तनायाः क्रमशः ॥
जीवाण पुग्गलाणं गइप्पवत्ताण कारणं धम्मो ।
जह मच्छाणं[1] तोयं थिरभूया णेव सो णेई ॥ ३०६ ॥
जीवानां पुद्गलानां गतिप्रवृत्तानां कारणं धर्मः ।
यथा मत्स्यानां तोयं स्थिरीभूतान् नैव स नयति ॥
ठिदिकारणं अधम्मो विसामठाणं च होइ जह छाया ।
पहियाणं रुक्खस्स य गच्छंतं[2] णेव सो धरई ॥ ३०७ ॥

---

१ मच्छयाण ख. । २ गच्छमाणा ण सो ख. ।

स्थितिकारणं अधर्मः विश्रामस्थानं च भवति यथा छाया।
पथिकानां वृक्षस्य च गच्छतः नैव स धरति ॥

सव्वेसिं दव्वाणं अवयासं देइ तं तु आयासं।
तं पुणु दुविहं भणियं लोयालोयं च जिणसमए ॥ ३०८ ॥

सर्वेषां द्रव्याणामवकाशं ददाति तत्त्वाकाशं।
तत्पुनः द्विविधं भणितं लोकालोकं च जिनसमये ॥

वत्तणगुणजुत्ताणं दव्वाणं होइ कारणं कालो।
सो दुविहभेयभिण्णो परमट्ठो होइ ववहारो ॥ ३०९ ॥

वर्तनागुणयुक्तानां द्रव्याणां भवति कारणं कालः।
स द्विविधभेदाभिन्नः परमार्थो भवति व्यवहारः ॥

परमट्ठो कालाणू लोयपदेसे हि संठिया णिच्चं।
एक्केक्के एक्केक्का अपएसा रयणरासिव्व ॥ ३१० ॥

परमार्थः कालाणवः लोकप्रदेशे हि संस्थिता नित्यं।
एकैकस्मिन् एकैका अप्रदेशा रत्नानां राशिरिव ॥

वट्टणकालो समओ पुग्गलपरमाणुवाण संजाओ।
ववहारस्स य मुक्खो उप्पण्णो तीद भावी स ॥ ३११ ॥

वर्तनाकालः समयः पुद्गलपरमाणूनां संजातः।
व्यवहारस्य च मुख्यः उत्पद्यमानोऽतीतो भावी सः ॥

तेसिं पि य समयाणं संखारहियाण आवली होई।
संखेज्जावलिगुणिओ उस्सासो होई जिणदिट्ठो ॥ ३१२ ॥

तेषामपि च समयानां संख्यारहितानां आवली भवति।
संख्यातावलीगुणित उच्छ्वासो भवति जिनदृष्टः ॥

सत्तुस्सासे थोओ सत्तथोएहिं होइ लओ इक्को ।
अट्ठत्तीसद्धलवा णाली वेणालिया मुहुत्तं तु ॥ ३१३ ॥

सप्तोच्छ्वासेन स्तोकः सप्तस्तोकैः भवति लव एकः ।
अष्टत्रिंशदर्धलवा नाली द्विनालिका मुहूर्तस्तु ॥

तीसमुहुत्तो दिवसो पणदहदिवसेहि होइ पक्खं तु ।
विहि पक्खेहि य मासो रिउ एक्का वेहिं मासेहिं ॥३१४॥

त्रिंशन्मुहूर्तं दिवसं पंचदशदिवसैः भवति पक्षस्तु ।
द्वाभ्यां पक्षाभ्यां च मासः ऋतुरेको द्वाभ्यां मासाभ्यां ॥

रिउतियभूयं अयणं अयणजुयलेण होइ वरिसेक्को ।
इय ववहारो उत्तो कमेण विड्ढिगओ विविहो ॥ ३१५ ॥

ऋतुत्रिभूतमयनं अयनयुगलेन भवति वर्ष एकः ।
एष व्यवहार उक्तः क्रमेण वृद्धिगतो विविधः ॥

एयं तु दव्वछक्कं जिणेहि पंचत्थिकाइयं भणियं ।
वज्जिय कायं कालो कालस्स पएसयं णत्थि ॥ ३१६ ॥

एतत्तु द्रव्यषट्कं जिनैः पंचास्तिकायिकं भणितं ।
वर्जयित्वा कायं कालं कालस्य प्रदेशो नास्ति ॥

जं पुण रूवी दव्वं गंधरसफासवण्णसंजुत्तं ।
लहिऊण जीवचिट्ठा कारणयं कम्मबंधस्स ॥ ३१७ ॥

यत्पुना रूपि द्रव्यं गन्धरसस्पर्शवर्णसंयुक्तं ।
लब्ध्वा जीवस्थितं कारणं कर्मबन्धस्य ॥

अजीवः ।

सम्मत्तसुदवएहिं य कसायउवसमणगुणसमाउत्तो ।
जो जीवो सो पुण्णं पावं वीवरीयदोसाओ ॥ ३१८ ॥

सम्यक्त्वश्रुतव्रतैः च कषायोपशमनगुणसमायुक्तः ।
यो जीवः स पुण्यं पापं विपरीतदोषतः ॥

पुण्यपापौ ।

गिरिणिग्गउणइवाहो पविसइ सरम्मि जहाणवरयं ।
लहिऊण जीवचिट्ठा तह कम्मं भावि आसवई ॥ ३१९ ॥

गिरिनिर्गतनदीप्रवाहः प्रविशति सरसि यथानवरतं ।
लब्ध्वा जीवस्थितं तथा कर्म भावि आस्रवति ॥

आसवइ सुहेण सुहं असुहं आसवइ असुहजोएण ।
जह णइजलं तलाए समलं वा णिम्मलं विसई ॥ ३२० ॥

आस्रवति शुभेन शुभं अशुभमास्रवति अशुभयोगेन ।
यथा नदीजलं तडागे समलं वा निर्मलं विशति ॥

आसवइ जं तु कम्मं मणवयकाएहि रायदोसेहि ।
तं संवरइ णिरुत्तं तिगुत्तिगुत्तो णिरालंवो ॥ ३२१ ॥

आस्रवति यत्तु कर्म मनवचनकायैः रागद्वेषैः ।
तत्संवृणोति निरुक्तं त्रिगुप्तिगुप्तो निरालम्बः ॥

---

१ अस्मादग्रे 'आस्रवतत्वं' इति पाठः ख-पुस्तके ।

जा संकप्पवियप्पो ता कम्मं असुहसुहयदायारं[1] ।
लद्धे सुद्धसहावे सुसंवरो उहयकम्मस्स ॥ ३२२ ॥

यावत् संकल्पविकल्पः तावत् कर्म अशुभशुभदातृ ।
लब्धे शुद्धस्वभावे सुसंवर उभयकर्मणः ॥

णट्ठे मणसंकप्पे इंदियवावारवज्जिए जीवे ।
लद्धे सुद्धसहावे उभयस्स य संवरो होई ॥ ३२३ ॥

नष्टे मनःसंकल्पे इन्द्रियव्यापारवर्जिते जीवे ।
लब्धे शुद्धस्वभावे उभयस्य संवरो भवति ॥

आस्रव-संवरौ ।

जीवकम्माण उहयं अण्णोण्णं जो पएसपवेसो हु ।
सो जिणवरेहिं बंधो भणिओ इय विगयमोहेहिं ॥ ३२४ ॥

जीवकर्मणोरुभयोरन्योन्यः यः प्रदेशप्रवेशस्तु ।
स जिनवरैः बन्धो भणित इति विगतमोहैः ॥

जीवपएसेक्केक्के कम्मपएसा हु अंतपरिहीणा ।
होंति घणा णिविडभूया सो बंधो होइ णायव्वो ॥ ३२५ ॥

---

१ अस्य व्याख्या ख–पुस्तके । यावत्कालं वहिर्विषये देहपुत्रकलत्रादौ ममेति रूपं संकल्पं करोति अभ्यन्तरे हर्षविषादरूपं विकल्पं च करोति तावत्कालमनन्तज्ञानादिसमृद्धिरूपमात्मानं हृदये न जानाति । यावत्कालमित्थंभूतं आत्म हृदये न स्फुरति तावत्कालं शुभाशुभजनकं कर्म करोति ।

जीवप्रदेशे एकैकस्मिन् कर्मप्रदेशा हि अन्तपरिहीनाः ।
भवंति घना निबिडभूताः स बंधो भवति ज्ञातव्यः ॥

अत्थि हु अणाइभूवो बंधो जीवस्स विविहकम्मेण ।
तस्सोदएण जायइ भावो पुण रायदोसमओ ॥ ३२६ ॥

अस्त्यनादिभूतो बन्धो जीवस्य विविधकर्मणा ।
तस्योदयेन जायते भावः पुना रागद्वेषमयः ॥

भावेण तेण पुणरवि अण्णे बहु पुग्गला हु लग्गंति ।
जह तुप्पियग(प)त्तस्स य णिविडा रेणुव्व लग्गंति ॥३२७॥

भावेन तेन पुनरपि अन्ये बहवः पुद्गला हि लगन्ति ।
यथा घृतपात्रस्य च निबिडा रेणवो लगन्ति ॥

एक्कसमएण बद्धं कम्मं जीवेण सत्तभेएहिं ।
परिणवइ आउकम्मं बद्धं भूयाउसेसेण ॥ ३२८ ॥

एकसमयेन बद्धं कर्म जीवेन सप्तभेदैः ।
परिणमति आयुःकर्म बद्धं भूतायुःशेषेण ॥

सो बंधो चउभेओ णायव्वो होइ सुत्तणिद्दिट्ठो ।
पयडिट्ठिदिअणुभागो पएसबंधो पुरा कहिओ ॥ ३२९ ॥

स बन्धश्चतुर्भेदो ज्ञातव्यो भवति सूत्रनिर्दिष्टः ।
प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबन्धः पुरा कथितः ॥

णाणाण दंसणाण आवरणं वेयणीय मोहणियं ।
आउस्स णाम गोदं अंतरायाणि पयडीओ ॥ ३३० ॥

ज्ञानानां दर्शनानां आवरणं वेदनीयं मोहनीयं ।
आयुष्कं नाम गोत्रं अन्तरायः प्रकृतयः ॥

णाणावरणं कम्मं पंचविहं होइ सुत्तणिद्दिट्ठं ।
जह पडिमोवरि खित्तं छायणयं होइ कप्पडयं ।। ३३१ ।।

ज्ञानावरणं कर्म पंचविधं भवति सूत्रनिर्दिष्टं ।
यथा प्रतिमोपरि क्षिप्तं छादनकं भवति कर्पटकम् ।।

दंसणआवरणं पुण जह पडिहारो णिणिवइ वारम्मि ।
तं णवविहं पउत्तं फुडत्थवाईहिं सुत्तम्मि ।। ३३२ ।।

दर्शनावरणं पुनः यथा प्रतिहारो वारयति द्वारे ।
तन्नवविधं प्रोक्तं स्फुटवादिभिः सूत्रे ।।

मोहेइ मोहणीयं जह मइरा अहव कोद्दमा[1] पुरिसं ।
तह अडवीसविभिण्णं णायव्वं जिणुवएसेण ।। ३३३ ।।

मोहयति मोहनीयं यथा मदिरा अथवा कोद्रवं पुरुषं ।
तथा अष्टाविंशतिविभिन्नं ज्ञातव्यं जिनोपदेशेन ।।

महुलित्तखग्गसरिसं दुविहं पुण होइ वेयणीयं तु ।
सायासायविभिण्णं सुहदुक्खं देइ जीवस्स ।। ३३४ ।।

मधुलिप्तखड्गसदृशं द्विविधं पुनः भवति वेदनीयं तु ।
सातासातविभिन्नं सुखदुःखं ददाति जीवाय ।।

आऊ चउप्पयारं सुरणारयमणुयतिरियगईबद्धं ।
हडिखित्तपुरिसतुल्लं जीवे भवधारणसमत्थं ।। ३३५ ।।

आयुः चतुष्प्रकारं सुरनारकमनुष्यतिर्यग्गतिबद्धं ।
हलिक्षिप्तपुरुषतुल्यं जीवे भवधारणसमर्थं ।।

---

१ कुद्दवा ख. ।

चित्तपडं व विचित्तं णाणाणामेहिं[1] वत्तणं णामं ।
तेणवइ संखगुणियं गइजाइसरीरआईहिं ॥ ३३६ ॥

चित्रपटवत् विचित्रं नानानामभिः वर्तनं नाम ।
त्रिनवतिः संख्यगुणितं गतिजातिशरीरादिभिः ॥

गोदं कुलालसरिसं णिच्चुच्चकुलेसु पायणे दच्छं ।
घडरंजणाइकरणे कुंभयंकारो[2] जहा णिउणो ॥ ३३७ ॥

गोत्रं कुलालसदृशं नीचोच्चकुलेषु प्रापणे दक्षं ।
घटरञ्जनादिकरणे कुंभकारो यथा निपुणः ॥

जह भंडयारिपुरिसो धणं णिवारेइ राइणा दिण्णं ।
तह अंतरायकम्मं णिवारणं कुणइ लद्धीणं ॥ ३३८ ॥

यथा भाण्डागारिपुरुषः धनं निवारयति राज्ञा दत्तं ।
तथान्तरायकर्म निवारणं करोति लब्धीनां ॥

तं पंचभेयउत्तं दाणे लाहे य भोइ उवभोए ।
तह वीरिएण भणियं अंतरायं जिणिंदेहिं ॥ ३३९ ॥

तत्पंचभेदयुक्तं दाने लाभे च भोगे उपभोगे ।
तथा वीर्येण भणितं अन्तरायं जिनेन्द्रैः ॥

एसो पयडीबंधो अणुभागो होइ तस्स सत्तीए ।
अणुभवणं जं तीवे[3] तिव्वं मंदे[4] मंदाणुरूवेण ॥ ३४० ॥

---

१ ण ख. । २ कुंभयारो ख. । ३ जीवे ख। ४ मंदे इति पाठः उभयपुस्तके नास्ति ।

एषः प्रकृतिबन्धोऽनुभागो भवति तस्य शक्त्याः ।
अनुभवनं यत्तीव्रे तीव्रं मन्दे मन्दानुरूपेण ॥

प्रकृत्यनुभागबन्धौ ।

तिण्हं खलु पढमाणं उक्कस्सं अंतराइयस्सेव ।
तीसं कोडाकोडीसायारणामाणमेव ठिदी ॥ ३४१ ॥
तिसृणां खलु प्रथमानामुत्कृष्टमन्तरायस्य च ।
त्रिंशत्कोटाकोटिसागरनाम्नामेव स्थितिः ॥
मोहस्स सत्तरी खलु वीसं पुण होइ णामगोत्तस्स ।
तेत्तीससागराणं उवमाओ आउसस्सेय ॥ ३४२ ॥
मोहस्य सप्ततिः खलु विंशतिः पुनर्भवति नामगोत्रयोः ।
त्रयस्त्रिंशत्सागराणां उपमा आयुष एव ॥

उत्कृष्टम् ।

वारसय वेयणीए णामागोदे य अट्ट य मुहुत्ता ।
भिण्णमुहुत्तं तु ठिदि सेसाणं सा वि पंचण्हं ॥ ३४३ ॥
द्वादश वेदनीये नामगोत्रयोश्च अष्टौ मुहूर्ताः ।
भिन्नमुहूर्तस्तु स्थितिः शेषाणां सापि पंचानां ॥

जघन्या, इति स्थितिबन्धः ।

---

१ प्रकृतिबन्ध इत्येव पाठः पुस्तके ।

पुव्वकयकम्मसडणं णिज्जरा सा पुणो हवे दुविहा।
पढमा विवायजाया विदिया अविवायजाया य ॥ ३४४ ॥

पूर्वकृतकर्मसटनं निर्जरा सा पुनः भवति द्विविधा।
प्रथमा विपाकजाता द्वितीया अविपाकजाता च ॥

कालेण उवाएण य पच्चंति जहा वणस्सुईफलाइं।
तह कालेण तवेण य पच्चंति कयाइं कम्माइं ॥ ३४५ ॥

कालेनोपायेन च पचन्ति यथा वनस्पतिफलानि।
तथा कालेन तपसा च पचन्ति कृतानि कर्माणि ॥

निर्जरा।

णिस्सेस कम्ममुक्खो सो मुक्खो जिणवरेहिं पण्णत्तो।
रायद्दोसाभावे सहावथक्कस्स जीवस्स ॥ ३४६ ॥

निःशेषकर्ममोक्षः स मोक्षः जिनवरैः प्रज्ञप्तः।
रागद्वेषाभावे स्वभावस्थितस्य जीवस्य ॥

सो पुण दुविहो भणिओ एक्कदेसो य सव्वमोक्खो य।
देसो चउघाइखए सव्वो णिस्सेसणासम्मि ॥ ३४७ ॥

स पुनः द्विविधो भणित एकदेशश्च सर्वमोक्षश्च।
देशः चतुर्घातिक्षये सर्वः निःशषनाशे ॥

मोक्षः।

एए सत्तपयारा जिणदिट्ठा भासिया मए तच्चा।
सद्दहइ जो हु जीवो सम्मादिट्ठी हवे सो हु ॥ ३४८ ॥

एतानि सप्तप्रकाराणि जिनदृष्टानि भाषितानि मया तत्त्वानि ।
श्रद्दधाति यस्तु जीवः सम्यग्दृष्टिः भवेत् स तु ॥

अविरियसम्मादिट्ठी एसो उत्तो मया समासेण ।
एत्तो उड्ढं वोच्छं समासदो देसविरदो य ॥ ३४९ ॥

अविरतसम्यग्दृष्टिः एष उक्तः मया समासेन ।
इत ऊर्ध्वं वक्ष्ये समासतो देशविरतं च ॥

इत्यविरतगुणस्थानं चतुर्थं ।

पंचमयं गुणठाणं विरयाविरउत्ति णामयं भणियं ।
तत्थ वि खयउवसमिओ खाइओ उवसमो चेव ॥ ३५० ॥

पंचमकं गुणस्थानं विरताविरत इति नामकं भणितं ।
तत्रापि क्षायोपशमिकः क्षायिकः औपशमिकश्च ॥

जो तसवहाउविरओ णो विरओ तह य थावरवहाओ ।
एक्कसमयम्मि जीवो विरयाविरउत्ति जिणु कहई ॥३५१॥

यस्त्रसवधाद्विरतो नो विरतस्तथा च स्थावरवधात् ।
एकसमये जीवो विरताविरत इति जिनः कथयति ॥

इलयाइथावराणं अत्थि पवित्तित्ति विरइ इयराणं ।
मूलगुणट्ठपउत्तो वारहवयभूसिओ हु देसजई ॥ ३५२ ॥

इलादिस्थावराणामस्ति प्रवृत्तिरिति विरतिरितरेषां ।
मूलगुणाष्टप्रयुक्तो द्वादशव्रतभूषितो हि देशयतिः ॥

हिंसाविरई सच्चं अदत्तपरिवज्जणं च थूलवयं ।
परमहिलापरिहारो परिमाणं परिग्गहस्सेव ॥ ३५३ ॥

हिंसाविरतिः सत्यं अदत्तपरिवर्जनं च स्थूलव्रतं ।
परमहिलापरिहारः परिमाणं परिग्रहस्यैव ॥

दिसिविदिसिपच्चखाणं अणत्थदंडाण होइ परिहारो ।
भोओपभोयसंखा एए हु गुणव्वया तिण्णि ॥ ३५४ ॥

दिग्विदिक्प्रत्याख्यानं अनर्थदण्डानां भवति परिहारः ।
भोगोपभोगसंख्या एतानि हि गुणव्रतानि त्रीणि ॥

देवे थुवइ तियाले पव्वे पव्वे सुपोसहोवासं ।
अतिहीण संविभागो मरणंते कुणइ सल्लिहणं ॥ ३५५ ॥

देवान् स्तौति त्रिकाले, पर्वणि पर्वणि सुप्रोषधोपवासः ।
अतिथीनां संविभागः, मरणान्ते करोति सल्लेखनां[1] ॥

महुमज्जमंसविरई चाओ पुण उंबराण पंचण्हं ।
अट्ठेदे मूलगुणा हवंति फुड्ड देसविरयम्मि ॥ ३५६ ॥

मधुमद्यमांसविरतिः त्यागः पुनः उदम्बराणां पंचानां ।
अष्टावेते मूलगुणा भवन्ति स्फुटं देशविरते ॥

अट्टरउद्दं झाणं भद्दं अत्थित्ति तम्हि गुणठाणे ।
वहुआरंभपरिग्गहजुत्तस्स य णत्थि तं धम्मं ॥ ३५७ ॥

आर्त्तरौद्रं ध्यानं भद्रं अस्तीति तस्मिन् गुणस्थाने ।
वह्वारम्भपरिग्रहयुक्तस्य च नास्ति तद्धर्म्यम् ॥

धम्मोदएण जीवो असुहं परिचयइ सुहगई लेई ।
कालेण सुक्ख मिल्लइ इंदियवलकारणं जाणि ॥ ३५८ ॥

---

१ अस्याग्रे उक्तं च श्लोकः ख-पुस्तके ।
मित्रे कलत्रे विभवे तनूजे सौख्ये गृहे यत्र विहाय मोहं ।
स्मर्यते पंचपदं स्वचित्ते सल्लेखना सा विहिता मुनीन्द्रैः ॥ १ ॥

धर्मोदयेन जीवोऽशुभं परित्यजति शुभगतिं प्राप्नोति ।
कालेन सुखं मिलति इन्द्रियबलकारणं जानीहि ॥

इट्ठविओए अट्टं उप्पज्जइ तह अणिट्ठसंजोए ।
रोयपकोवे तइयं णियाणकरणे चउत्थं तु ॥ ३५९ ॥

इष्टवियोगे आर्तं उत्पद्यते तथा अनिष्टसंयोगे ।
रोगप्रकोपे तृतीयं निदानकरणे चतुर्थं तु ॥

अट्टज्झाणपउत्तो बंधइ पावं णिरंतरं जीवो ।
मरिऊण य तिरियगई को वि णरो जाइ तज्झाणे ॥३६०॥

आर्तध्यानयुक्तो बध्नाति पापं निरन्तरं जीवः ।
मृत्वा च तिर्यग्गतिं कोऽपि नरो याति तद्ध्याने ॥

रुद्दं कसायसहियं जीवो संभवइ हिंसयाणंदं ।
मोसाणंदं विदियं तेयाणंदं पुणो तइयं ॥ ३६१ ॥

रुद्रं कषायसहितं जीवः संभवति हिंसानन्दं ।
मृषानन्दं द्वितीयं स्तेयानन्दं पुनस्तृतीयं ॥

हवइ चउत्थं झाणं रुद्दं णामेण रक्खणाणंदं ।
जस्स य माहप्पेण य णरयगईभायणो जीवो ॥ ३६२ ॥

भवति चतुर्थं ध्यानं रौद्रं नाम्ना रक्षणानन्दं ।
यस्य च माहात्म्येन नरकगतिभाजनो जीवः ॥

गिहवावाररयाणं गेहीणं इंदियत्थपरिकलियं ।
अट्टज्झाणं जायइ रुद्दं वा मोहछण्णाणं ॥ ३६३ ॥

गृहव्यापाररतानां गेहिनामिन्द्रियार्थपरिकलितं ।
आर्तध्यानं जायते रौद्रं वा मोहच्छन्नानां ॥

झाणेहिं तेहिं पावं उप्पण्णं तं खवइ भद्दझाणेण ।
जीवो उवसमजुत्तो देसजई णाणसंपण्णो ॥ ३६४ ॥

ध्यानैस्तैः पापं उत्पन्नं तत्क्षपयति भद्रध्यानेन ।
जीव उपशमयुक्तो देशयतिः ज्ञानसम्पन्नः ॥

भद्दस्स लक्खणं पुण धम्मं चिंतेइ भोयपरिमुक्को ।
चिंतिय धम्मं सेवइ पुणरवि भोए जहिच्छाए ॥ ३६५ ॥

भद्रस्य लक्षणं पुनः धर्मं चिन्तयति भोगपरिमुक्तः ।
चिन्तयित्वा धर्मं सेवते पुनरपि भोगान् यथेच्छया ॥

धम्मज्झाणं भणियं आणापायाविवायविचयं च ।
संठाणं विचयं तह कहियं झाणं समासेण ॥ ३६६ ॥

धर्म्यध्यानं भणितं आज्ञापायविपाकविचयं च ।
संस्थानविचयं तथा कथितं ध्यानं समासेन ॥

छद्दव्वणवपयत्था सत्त वि तच्चाइं जिणवराणाए ।
चिंतइ विसयविरत्तो आणाविचयं तु तं भणियं ॥ ३६७ ॥

षड्द्रव्यनवपदार्थान् सप्तापि तत्वानि जिनवराज्ञया ।
चिन्तयति विषयविरक्त आज्ञाविचयं तु तद्भणितं ॥

असुहकम्मस्स णासो सुहस्स वा हवेइ केणुवाएण ।
इय चिंततस्स हवे अपायविचयं परं झाणं ॥ ३६८ ॥

अशुभकर्मणः नाशः शुभस्य वा भवति केनोपायेन ।
एतच्चिन्तयतः भवेदपायविचयं परं ध्यानं ॥

असुहसुहस्स विवाओ चिंतइ जीवाण चउगइगयाण ।
विवायविचयं झाणं भणियं तं जिणवरिंदेहिं ॥ ३६९ ॥

अशुभशुभस्य विपाकः चिन्तयति जीवानामशुभगतिगतानां ॥
विपाकविचयं ध्यानं भणितं तज्जिनवरेन्द्रैः ॥

अहउड्ढतिरियलोए चिंतेइ सपज्जयं ससंठाणं ।
विचयं संठाणस्स य भणियं झाणं समासेण ॥ ३७० ॥

अधऊर्ध्वतिर्यग्लोकं चिन्तयति सपर्ययं ससंस्थानं ।
विचयं संस्थानस्य च भणितं ध्यानं समासेन ॥

मुक्खं धम्मज्झाणं उत्तं तु पमायविरहिए ठाणे ।
देसविरए पमत्ते उवयारेणेव णायव्वं ॥ ३७१ ॥

मुख्यं धर्मध्यानमुक्तं तु प्रमादविरहिते स्थाने ।
देशविरते प्रमत्ते उपचारेणैव ज्ञातव्यं ॥

दहलक्खणसंजुत्तो अहवा धम्मोत्ति वण्णिओ सुत्ते ।
चिंता जा तस्स हवे भणियं तं धम्मझाणुत्ति ॥ ३७२ ॥

दशलक्षणसंयुक्तोऽथवा धर्म इति वर्णितः सूत्रे ।
चिन्ता या तस्य भवेत् भणितं तद्धर्मध्यानमिति ॥

अहवा वत्थुसहावो धम्मं वत्थू पुणो व सो अप्पा ।
झायंताणं कहियं धम्मज्झाणं मुणिंदेहिं ॥ ३७३ ॥

अथवा वस्तुस्वभावो धर्मः वस्तु पुनश्च स आत्मा ।
ध्यायमानानां तत् कथितं धर्म्यध्यानं मुनीन्द्रैः ॥

तं फुड दुविहं भणियं सालंवं तह पुणो अणालंवं ।
सालंवं पंचण्हं परमेट्ठीणं सरूवं तु ॥ ३७४ ॥

तत्स्फुटं द्विविधं भणितं सालम्वं तथा पुनरनालम्वं ।
सालंवं पंचानां परमेष्ठीनां स्वरूपं तु ॥

हरिरइयसमवसरणो[1] अट्ठमहापाडिहेरसंजुत्तो ।
सियकिरण विप्फुरंतो झायव्वो अरुहपरमेट्ठी ॥ ३७५ ॥

---

1 णे ख. ।

हरिरचितसमवशरणोऽष्टमहाप्रातिहार्यसंयुक्तः ।
सितकिरणेन विस्फुरन् ध्यातव्योऽर्हत्परमेष्ठी ॥

णट्टट्ठकम्मबंधो अट्ठगुणट्ठो य लोयसिहरत्थो[1] ।
सुद्धो णिच्चो सुहमो झायव्वो सिद्धपरमेट्ठी ॥ ३७६ ॥

नष्टाष्टकर्मबन्धोऽष्टगुणस्थश्च लोकशिखरस्थः ।
शुद्धो नित्यः सूक्ष्मः ध्यातव्यः सिद्धपरमेष्ठी ॥

छत्तीसगुणसमग्गो णिच्चं आयरइ पंचआयारो ।
सिस्साणुग्गहकुसलो भणिओ सो सूरिपरमेट्ठी ॥ ३७७ ॥

षट्त्रिंशद्गुणसमग्रः नित्यं आचरति पंचाचारं ।
शिष्यानुग्रहकुशलो भणितः स सूरिपरमेष्ठी ॥

अज्झावयगुणजुत्तो धम्मोवदेसयारि चरियट्ठो ।
णिस्सेसागमकुसलो परमेट्ठी पाठओ झाओ ॥ ३७८ ॥

अध्यापनगुणयुक्तो धर्मोपदेशकारी चर्यास्थः ।
निःशेषागमकुशलः परमेष्ठी पाठको ध्येयः ॥

उग्गतवतवियगत्तो तियालजोएण गमियअहरत्तो ।
साहियमोक्खस्सपओ[2] झाओ सो साहुपरमेट्ठी ॥ ३७९ ॥

उग्रतपस्तपितगात्रः त्रिकालयोगेन गमिताहोरात्रः ।
साधितमोक्षपथः ध्येयः स साधुपरमेष्ठी ॥

एवं तं सालंवं धम्मज्झाणं हवेइ णियमेण ।
झायंताणं जायइ विणिज्जरा असुहकम्माणं ॥ ३८० ॥

एवं तत्सालंबं धर्मध्यानं भवति नियमेन ।
ध्यायमानानां जायते विनिर्जरा अशुभकर्मणां ॥

---

१ सिहतत्थो. क. । २ हो ख. ।

जं पुणु वि णिरालंवं तं झाणं गयपमायगुणठाणे।
चत्तगेहस्स जायइ धरियंजिणलिंगरूवस्स[1] ॥ ३८१ ॥
यत्पुनरपि निरालंवं तद्ध्यानं गतप्रमादगुणस्थाने।
त्यक्तगृहस्य जायते धृतजिनलिंगरूपस्य ॥

जो भणइ को वि एवं अत्थि गिहत्थाण णिच्चलं झाणं।
सुद्धं च णिरालंवं ण मुणइ सो आयमो जइणो ॥ ३८० ॥
यो भणति कोऽप्येवं अस्ति गृहस्थानां निश्चलं ध्यानं।
शुद्धं च निरालंवं न मनुते स आगमं यतीनां ॥

कहियाणि दिट्ठिवाए पडुच्च गुणठाण जाणि झाणाणि।
तह्मा स देसविरओ मुक्खं धम्मं ण झाएई ॥ ३८३ ॥
कथितानि दृष्टिवादे प्रतीत्य गुणस्थानानि जानीहि ध्यानानि।
तस्मात् स देशविरतो मुख्यं धर्म्यं न ध्यायति ॥

किं जं सो गिहवंतो वहिरंतरगंथपरिमिओ णिच्चं।
वहुआरंभपउत्तो कह झायइ सुद्धमप्पाणं ॥ ३८४ ॥
किं यत् स गृहवान् वाह्याभ्यन्तरग्रन्थपरिमितो नित्यं।
वह्वारम्भप्रयुक्तः कथं ध्यायति शुद्धमात्मानं ॥

घरवावारा केई करणीया अत्थि तेण ते सव्वे।
झाणट्ठियस्स पुरओ चिट्ठंति णिमीलियच्छिस्स ॥ ३८५ ॥
गृहव्यापाराणि कियन्ति करणीयानि सन्ति तेन तानि सर्वाणि।
ध्यानस्थितस्य पुरतः तिष्ठन्ति निमीलिताक्ष्णः ॥

अह ढिंकुलिया झाणं झायइ अहवा स सोवए झाणी।
सोवंतो झायव्वं ण ठाइ चित्तम्मि वियलम्मि ॥ ३८६ ॥

1 जिणरूवलिंगस्स ख.।

अथ ढिंकुलिकं ध्यानं ध्यायति अथवा स स्वपिति ध्यानी ।
स्वपतः ध्यातव्यं न तिष्ठति चित्ते विकले ॥

झाणाणं संताणं अहवा जाएइ तस्स झाणस्स ।
आलंवणरहियस्स य ण ठाइ चित्तं थिरं जम्हा ॥३८७॥

ध्यानानां सन्तानं अथवा जायते तस्य ध्यानस्य ।
आलंबनरहितस्य च न तिष्ठति चित्तं स्थिरं यस्मात् ॥

तम्हा सो सालंवं झायउ झाणं पि गिहवई णिच्चं ।
पंचपरमेट्ठीरूवं अहवा मंतक्खरं तेसिं ॥ ३८८ ॥

तस्मात् स सालंबं धायतु ध्यानमपि गृहपतिर्नित्यं ।
पंचपरमेष्ठिरूपमथवा मंत्राक्षरं तेषां ॥

जइ भणइ को वि एवं गिहवावारेसु वट्टमाणो वि
पुण्णे अम्ह ण कज्जं जं संसारे सुपाडेई ॥ ३८९ ॥

यदि भणति कोऽप्येवं गृहव्यापारेषु वर्तमानोऽपि ।
पुण्येनास्माकं न कार्यं यत्संसारे सुपातयति ॥

मेहुणसण्णारूढो मारइ णवलक्खसुहुमजीवाई ।
इय जिणवरेहिं भणियं वज्झंतरणिग्गंथरूवेहिं ॥ ३९० ॥

मैथुनसंज्ञारूढो मारयति अनवलक्ष्यसूक्ष्मजीवान् ।
एतज्जिनवरैः भणितं बाह्याभ्यन्तरनिर्ग्रन्थरूपैः ॥

गेहे वट्टंतस्स य वावारसयाइं सया कुणंतस्स ।
आसवइ कम्ममसुहं अट्टरउद्दे पवत्तस्स ॥ ३९१ ॥

गेहे वर्तमानस्य च व्यापारशतानि सदा कुर्वतः ।
आस्रवति कर्माशुभं आर्तरौद्रप्रवृत्तस्य ॥

जह गिरिणई तलाए अणवरयं पविसए[1] सलिलपरिपुण्णं ।
मणवयतणुजोएहिं पविसइ असुहेहिं तह पावं ॥ ३९२ ॥

यथा गिरिनदी तडागेऽनवरतं प्रविशति सलिलपरिपूर्णे ।
मनवचनतनुयोगैः प्रविशति अशुभैः तथा पापं ।

जाम ण[2] छंडइ गेहं ताम ण[3] परिहरइ इंतयं पावं ।
पावं अपरिहरंतो हेओ[4] पुण्णस्स मा चयउ ॥ ३९३ ॥

यावन्न त्यजति गृहं तावन्न परिहराति एतत्पापं ।
पापमपरिहरन् हेतुं पुण्यस्य मा त्यजतु ॥

आ(मा)मुक्क पुण्णहेउं पावस्सासवं अपरिहरंतो य ।
वज्झइ पावेण णरो सो दुग्गइ जाइ मरिऊणं ॥ ३९४ ॥

मा त्यज पुण्यहेतुं पापस्यास्रवमपरिहरंश्च ।
बध्यते पापेन नरः स दुर्गतिं याति मृत्वा ॥

पुण्णस्स कारणाइं पुरिसो परिहरउ जेण णियचित्तं ।
विसयकसायपउत्तं णिग्गहियं[5] हयपमाएण ॥ ३९५ ॥

पुण्यस्य कारणानि पुरुषः परिहरतु येन निजचित्तं ।
विषयकषायप्रयुक्तं निगृहीतं हतप्रमादेन ॥

गिहवावारविरत्तो गहियंजिणलिंग रहियसपमाओ ।
पुण्णस्स कारणाइं परिहरउ सयावि सो पुरिसो ॥ ३९६ ॥

गृहव्यापारविरक्तो गृहीतजिनलिंगः रहितस्वप्रमादः ।
पुण्यस्य कारणानि परिहरतु सदापि स पुरुषः ॥

असुहस्स कारणेहिं य कम्मच्छक्केहि णिच्च वट्टंतो ।
पुण्णस्स कारणाइं बंधस्स भएण णिं[6]च्छंतो ॥ ३९७ ॥

---

१ इ. ख । २–३ न ख । ४ उ. ख. । ५ णिरोहियं ख. । ६ णे. ख. ।

अशुभस्य कारणे च कर्मषट्के नित्यं वर्तमानः ।
पुण्यस्य कारणानि बन्धस्य भयने नेच्छन् ॥

ण मुणइ इय जो पुरिसो जिणकहियपयत्थणवसरूवं तु ।
अप्पाणं सुयणमज्झे हासस्स य ठाणयं कुणई ॥ ३९८ ॥

न मनुते एतत् यः पुरुषो जिनकथितपदार्थनवस्वरूपं तु ।
आत्मानं सुजनमध्ये हास्यस्य च स्थानकं करोति ॥

पुण्णं पुव्वायरिया दुविहं अक्खंति सुत्तउत्तीए ।
मिच्छपउत्तेण कयं विवरीयं सम्मजुत्तेण ॥ ३९९ ॥

पुण्यं पूर्वाचार्या द्विविधं कथयन्ति सूत्रोक्त्या ।
मिथ्यात्वप्रयुक्तेन कृतं विपरीतं सम्यक्त्वयुक्तेन ॥

मिच्छादिट्ठीपुण्णं फलइ कुदेवेसु कुणरतिरिएसु ।
कुच्छियभोगधरासु य कुच्छियपत्तस्स दाणेण ॥ ४०० ॥

मिथ्यादृष्टिपुण्यं फलति कुदेवेषु कुनरतिर्यक्षु ।
कुत्सितभोगधरासु च कुत्सितपात्रस्य दानेन ॥

जइ वि सुजायं वीयं ववसायपउत्तओ विजइ कसओ ।
कुच्छियखेत्ते ण फलइ तं वीयं जह तहा दाणं ॥ ४०१ ॥

यद्यपि सुजातं बीजं व्यवसायप्रयुक्तो वपति कृषकः ।
कुत्सितक्षेत्रे न फलति तद्वीजं यथा तथा दानं ॥

जइ फलइ कह वि दाणं कुच्छियजाईहिं कुच्छियसरीरं[1] ।
कुच्छियभोए दाउं पुणरवि पाडेइ संसारे ॥ ४०२ ॥

यदि फलति कथमपि दानं कुत्सितजातिषु कुत्सितशरीरं ।
कुत्सितभोगान् दत्वा पुनरपि पातयति संसारे ॥

१ कुच्छियजाईहिं देइ कुसरीरं ख. ।

संसारचक्कवाले परिब्भमंतो हु जोणिलक्खाइं ।
पावइ विवहे दुक्खे विरयंतो विविहकम्माइं[1] ॥ ४०३ ॥

संसारचक्रवाले परिभ्रमन् हि योनिलक्षाणि ।
प्राप्नोति विविधान् दुःखान् विरचयन् विविधकर्माणि ॥

सम्मादिट्ठीपुण्णं ण होइ संसारकारणं णियमा ।
मोक्खस्स होइ हेउं जइ वि णियाणं ण सो कुणई[2] ॥ ४०४ ॥

सम्यग्दृष्टिपुण्यं न भवति संसारकारणं नियमात् ।
मोक्षस्य भवति हेतुः यदि च निदानं न स करोति ॥

अकइय[3]णियाणसम्मो पुण्णं काऊण णाणचरणट्ठो ।
उप्पज्जइ दिवलोए सुहपरिणामो सुलेसो वि ॥ ४०५ ॥

अकृतनिदानसम्यग्दृष्टिः पुण्यं कृत्वा ज्ञानचरणस्थः ।
उत्पद्यते दिवलोके शुभपरिणामः सुलेश्योऽपि ॥

अंतरमुहुत्तमज्झे देहं चइऊण माणुसं कुणिमं ।
गिण्हइ उत्तमदेहं सुचरियकम्माणुभावेण ॥ ४०६ ॥

अन्तर्मुहूर्तमध्ये देहं त्यक्त्वा मानुषं कुणिमं ।
गृह्णाति उत्तमदेहं सुचरितकर्मानुभावेन ॥

चम्मं रुहिरं मंसं मेज्जा अट्ठिं च तह वसा सुक्कं ।
सिंभं[4] पित्तं अंतं मुत्त पुरीसं च रोमाणि ॥ ४०७ ॥

---

१ अंगाइं ख. । २ अस्मादग्रे " उक्तं च " पाठः ख–पुस्तके ।

जीवं तह परिणामं कम्मंगइ विगहिदियं,
रायदोसं च कमे भमेइ संसारचक्कम्मि ॥ १ ॥

पुस्तकानुसारी पाठः । ३ अकय नियाणो सम्मो ख. । ४ णिसीलिंभ ख. ।

चर्म रुधिरं मांसं मेदोऽस्थिश्च तथा वसा शुक्रं।
श्लेष्म पित्तं अंत्रं मूत्रं पुरीषं च रोमाणि॥

णहदंतसिरण्[1]हारुलाला[2] सेउयं च णिमिस आलस्सं।
णिद्दा तण्हा य जरा अंगे देवाण ण हि अत्थि॥ ४०८॥

नखदन्तशिरानारुलाला: स्वेदकं च निमेषं आलस्यं।
निद्रा तृष्णा च जरा अङ्गे देवानां न हि सन्ति॥

सुइ अमलो वरवण्णो देहो सुहफासगंधसंपण्णो।
वालरवितेयसरिसो चारुसरूवो सया तरुणो॥ ४०९॥

शुचिः अमलो वरवर्णः देहः शुभस्पर्शगन्धसम्पन्नः।
बालरवितेजसदृशः चारुस्वरूपः सदा तरुणः॥

अणिमा[3] महिमा लहिमा पावइ पागम्म तह य ईसत्तं।
वसयत्त कामरूवं एत्तियहि गुणेहि संजुत्तो॥ ४१०॥

अणिमा महिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं तथा चेशित्वं।
वशित्वं कामरूपं एतैः गुणैः संयुक्तः॥

देवाण होइ देहो अइउत्तमेण पुग्गलेण संपुण्णो।
सहजाहरणणिउत्तो अइरम्मो होइ पुण्णेण॥ ४११॥

---

१ सिरण्हाउ ख.। २ सेयं लवलो क–पुस्तके पाठः, अयं तु ख–पुस्तकात्संयोजितः। ३ ख–पुस्तके अस्या व्याख्या वर्तते तद्यथा।

व्याख्या —अणुशरीरविकरणमणिमा। मेरोरपि महत्तरशरीरविकरणं महिमा। वायोरपि लघुतरशरीरकरणं लघिमा। भूमौ स्थित्वाऽङ्गुल्यग्रेण मेरुशिखरदिवाकरादिस्पर्शनशक्तिः प्राप्तिः। अप्सु भूमाविव गमनं भूमौ जले इवोन्मज्जनकरणं प्राकाम्यं। त्रैलोक्यप्रभुत्वं ईशित्वं। सर्वजीववशीकरणलब्धिर्वशित्वं। युगपदनेकरूपविकरणशक्तिः कामरूपित्वं॥

देवानां भवति देहोऽत्युत्तमेन पुद्गलेन सम्पूर्णः ।
सहजाहरणनियुक्तोऽतिरम्यो भवति पुण्येन ॥

उप्पण्णो कणयमए कायक्कंतिहिं भासियं भवणे ।
पेच्छंतो रयणमयं पासायं कणयदित्तिल्लं ॥ ४१२ ॥

उत्पन्नः कनकमये कायकान्तिभिः भासिते भवने ।
पश्यन् रत्नमयं प्रासादं कनकदीप्तिम् ॥

अणुकूलं परियणयं तरलियणयणं च अच्छराणिवहं ।
पिच्छंतो णमियसिरं सिरकइयकरंजली देवे ॥ ४१३ ॥

अनुकूलं परिजनकं तरलितनयनं च अप्सरोनिवहं ।
पश्यन् नमितशीर्षान् शिरःकृतकराञ्जलीन् देवान् ॥

णिसुणंतो थोत्तसए सुरवरसत्थेण विरइए ललिए ।
तुंवुरुगाइयगीए वीणासद्देण सुइसुहए ॥ ४१४ ॥

निःशृण्वन् स्तोत्रान् सुरवरसार्थेन विरचितान् ललितान् ।
तुम्बुरुगीतगीतान् वीणाशब्देन श्रुतिसुखदान् ॥

चिंतइ किं एवड्डं मज्झ पहुत्तं इमं पि किं जायं ।
किं ओ लग्गइ एसो अमरगणो विणयसंपण्णो ॥ ४१५ ॥

चिन्तयति किमेतावन्मम प्रभुत्वं इदमपि किं जातं ।
किमुत लगति एषः अमरगणः विनयसम्पन्नः ॥

को हं इह कस्साओ केण विहाणेण इयं गेहं पत्तो ।
तविओ को उग्गतवो केरिसियं संजमं विहियं ॥ ४१६ ॥

कोऽहं इह कथमागतः केन विधानेन इमं गृहं प्राप्तः ।
तपितं किमुग्रतपः कीदृशं संयमं विहितं ॥

---

१ पयं. ख. पदं ।

किं दाणं मे दिण्णो केरिसपत्ताण काय सुभत्तीए ।
जेणाहं कयपुण्णो उप्पण्णो देवलोयम्मि ॥ ४१७ ॥

किं दानं मया दत्तं कीदृशपात्राणां कया सुभक्त्या ।
येनाहं कृतपुण्यः उत्पन्नो देवलोके ॥

इय चिंतंतो पसरइ ओहीणाणं तु भवसहावेण ।
जाणइ सो आसिभवं विहियं धम्मप्पहावं च ॥ ४१८ ॥

इति चिन्तयन् प्रसारयति अवधिज्ञानं तु भवस्वभावेन ।
जानाति स अतीतभवं विहितं धर्मप्रभावं च ॥

पुणरवि तमेव धम्मं मणसा सद्दहइ सम्मदिट्ठी सो ।
वंदेइ जिणवराणं णंदिसरपहुइसव्वाइं ॥ ४१९ ॥

पुनरपि तमेव धर्मं मनसा श्रद्दधाति सम्यग्दृष्टिः सः ।
वन्दते जिनवरान् नन्दीश्वरप्रभृतिसर्वान्[1] ॥

इय बहुकालं सग्गे भोगं[2] भुंजंतु विविहरमणीयं[3] ।
चइऊण आउसखए उप्पज्जइ मच्चलोयम्मि ॥ ४२० ॥

इति बहुकालं स्वर्गे भोगं भुंजानः विविधरमणीयं ।
च्युत्वा आयुःक्षये उत्पद्यते मर्त्यलोके ॥

उत्तमकुले महंतो बहुजणणमणीयें[4] संपयापउरे ।
होऊण अहियरूवो बलजोव्वणरिद्धिसंपुण्णो ॥ ४२१ ॥

उत्तमकुले महति बहुजननमनीये सम्पदाप्रचुरे ।
भूत्वा अधिकरूपः बलयौवनर्धिसम्पूर्णः ॥

तत्थ वि विविहे भोए णरखेत्तभवे अणोवमे परमे ।
भुंजित्ता णिव्विण्णो संजमयं चेव गिण्हेई ॥ ४२२ ॥

१ ह. ख. जिनगृहान् । २ भोये ख. । ३ ए. ख. । ४ ए. ख. ।

तत्रापि विविधान् भोगान् नरक्षेत्रभवाननुपमान् परमान् ।
भुक्त्वा निर्विण्णः संयमं चैव गृह्णाति ॥

लद्धं जइ चरमतणु चिरकयपुण्णेण सिज्झए णियमा ।
पाविय केवलणाणं जहखाइयसंजयं सुद्धं ॥ ४२३ ॥

लब्धं यदि चरमतनु चिरकृतपुण्येन सिद्ध्यति नियमात् ।
प्राप्य केवलज्ञानं यथाख्यातसंयतं शुद्धं ॥

तम्हा सम्मादिट्ठी पुण्णं मोक्खस्स कारणं हवई ।
इय णाऊण गिहत्थो पुण्णं चायरउ जत्तेण ॥ ४२४ ॥

तस्मात्सम्यग्दृष्टेः पुण्यं मोक्षस्य कारणं भवति ।
इति ज्ञात्वा गृहस्थः पुण्यं चार्जयतु यत्नेन ॥

पुण्णस्स कारणं फुडु पढमं ता हवइ देवपूया य ।
कायव्वा भत्तीए सावयवग्गेण परमाये[1] ॥ ४२५ ॥

पुण्यस्य कारणं स्फुटं प्रथमं सा भवति देवपूजा च ।
कर्तव्या भक्त्या श्रावकवर्गेण परमया ॥

फासुयजलेण ण्हाइय णिवसिय वत्थाइं गंपि तं ठाणं ।
इरियावहं च सोहिय उवविसियं पडिमयासेणं[2] ॥ ४२६ ॥

प्रासुकजलेन स्नात्वा निवेश्य वस्त्राणि गन्तव्यं तत्स्थानं ।
ईर्यापथं च शोधयित्वा उपविश्य प्रतिमासनेन ॥

पुज्जाउवयरणाइ य पासे सण्णिहिय मंतपुव्वेण ।
ण्हाणेणं ण्हाइत्ता आचमणं कुणउ मंतेण ॥ ४२७ ॥

पूजोपकरणानि च पार्श्वे सन्निधाय मंत्रपूर्वेण ।
स्नानेन स्नात्वा आचमनं करोतु मंत्रेण ॥

---

१ ने ख. । २ ए. ख. ।

आसणठाणं किच्चा सम्मत्तपुव्वं तु झाइए अप्पा ।
सिहिमंडलमज्झत्थं[1] जालासयजलियणियदेहं ॥ ४२८॥

आसनस्थानं कृत्वा सम्यक्त्वपूर्वं तु ध्यायतु आत्मानं ।
शिखिमण्डलमध्यस्थं ज्वालाशतज्वलितनिजदेहं ॥

पावेण सह सदेहं झाणे डज्झंतयं खु चिंतंतो ।
बंधउ संतीमुद्दा पंचपरमेट्ठिणामाय ॥ ४२९ ॥

पापेन सह स्वदेहं ध्याने दह्यमानं खलु चिन्तयन् ।
बध्नातु शान्तिमुद्रां पंचपरमेष्ठिनामानं ॥

अमयक्खरे णिवेसउ पंचसु ठाणेसु सिरसि धरिऊण ।
सा मुद्दा पुणु चिंतउ धाराहिं सवतयं अमयं ॥ ४३० ॥

अमृताक्षरं निवेशयतु पंचसु स्थानेषु शिरसि धृत्वा ।
तां मुद्रां पुनः चिन्तयतु धाराभिः स्त्रवदमृतं ॥

पावेण सह सरीरं दड्ढ जं आसि झाणजलणेण ।
तं जायं जं छारं पक्खालउ तेण [2]मंतेण ॥ ॥ ४३१ ॥

पापेन सह शरीरं दग्धुं यत् आसीत् ध्यानज्वलनेन ।
तज्जातं यत्क्षारं प्रक्षालयतु तेन मंत्रेण ॥

पडिदिवसं जं पावं पुरिसो आसवइ तिविहजोएण ।
तं णिद्दहइ णिरुत्तं तेण ज्झाणेण संजुत्तो ॥ ४३२ ॥

प्रतिदिवसं यत्पापं पुरुषः आस्त्रवति त्रिविधयोगेन ।
तन्निर्दहति निःशेषं तेन ध्यानेन संयुक्तः ॥

---

१ मज्झगयं ख. । २ णियदेहं ख. निजदेहं ।

जं सुद्धो[1] तं अप्पा सकायरहिओ य कुणइ ण हु किं पि ।
तेण पुणो णियदेहं पुण्णण्णवं चिंतए झाणी ॥ ४३३ ॥

य: शुद्ध: आत्मा स्वकायरहितश्च करोति न हि किमपि ।
तेन पुनर्निजदेहं पुण्यार्णवं चिन्तयेत् ध्यानी ॥

उट्ठाविऊण देहं संपुण्णं कोडिचंदसंकासं ।
पच्छा सयलीकरणं कुणओ परमेट्ठिमंतेण ॥ ४३४ ॥

उत्थाय देहं सम्पूर्णं कोटिचन्द्रसंकाशं ।
पश्चाच्छकलीकरणं करोतु परमेष्ठिमंत्रेण ॥

अहवा खिप्पेउ[2] सा(से)हा[3] णिस्सेउ करंगुलीहिं वामेहिं ।
पाए णाही हियए मुहे य सीसे य ठविऊणं ॥ ४३५ ॥

अथवा क्षिपेतु शेषां ? निवेशयतु ? कराङ्गुलैः वामैः ।
पादे नाभ्यां हृदये मुखे च शिरसि च स्थापयित्वा ॥

अंगे णासं किच्चा इंदो हं कप्पिऊण णियकाए ।
कंकण सेहर मुद्दी कुणओ जण्णोपवीयं च ॥ ४३६ ॥

अंगे न्यासं कृत्वा इन्द्रोऽहं कल्पयित्वा निजकाये ।
कंकणं शेखरं मुद्रिकां कुर्यात् यज्ञोपवीतं च ॥

पीढं मेरुं कप्पिय तस्सोवरि ठाविऊण जिणपडिमा ।
पच्चक्खं अरहंतं चित्ते भावेउ भावेण ॥ ४३७ ॥

पीठं मेरुं कल्पयित्वा तस्योपरि स्थापयित्वा जिनप्रतिमां ।
प्रत्यक्षं अर्हन्तं चित्ते भावयेत् भावेन ॥

कलसचउक्कं ठाविय चउसु वि कोणेसु णीरपरिपुण्णं ।
घयदुद्धदहियभरियं णवसयदलछण्णमुहकमलं ॥ ४३८ ॥

---

१ संबुद्धो सो अप्पा ख. । संशुद्धः स आत्मा । २ पे ख. । ३ सहा ख. ।

कलशचतुष्कं स्थापयित्वा चतुर्ष्वपि कोणेषु नीरपरिपूर्णं ।
घृतदुग्धदधिभृतं नवशतदलच्छन्नमुखकमलं ॥

आवाहिऊण देवे सुरवइसिहिकालणेरिए वरुणे ।
पवणे जखे ससूली सपियसवाहणे ससत्थे य ॥ ४३९ ॥

आहूय देवान् सुरपति-शिखि-काल नैर्ऋत्यान् वरुणान् ।
पवनान् यक्षान् सशूलिनः सप्रियसवाहनान् सशस्त्राँश्च ॥

दाऊण पुज्जदव्वं बलिचरुयं तह य जण्णभायं च ।
सव्वेसिं मंतेहि य वीयक्खरणामजुत्तेहिं ॥ ४४० ॥

दत्वा पूजाद्रव्यं बलिचरुकं तथा च यज्ञभागं च ।
सर्वेषां मंत्रैश्च बीजाक्षरनामयुक्तैः ॥

उच्चारिऊण मंते अहिसेयं कुणउ देवदेवस्स ।
णीरघयखीरदहियं खिवउ अणुक्कमेण जिणसीसे ॥ ४४१ ॥

उच्चार्य मंत्रान् अभिषेकं कुर्यात् देवदवस्य ।
नीरघृतक्षीरदधिकं क्षिपेत् अनुक्रमेण जिनशीर्षे ॥

ण्हवणं काऊण पुणो अमलं गंधोवयं च वंदित्ता ।
सवलहणं च जिणिंदे कुणऊ कस्सीरमलएहिं ॥ ४४२ ॥

स्नपनं कारयित्वा पुनः अमलं गन्धोदकं च वन्दित्वा ।
उद्वर्तनं च जिनेन्द्रे कुर्यात् काश्मीरमलयैः ॥

आलिहउ सिद्धचक्कं पट्टे दव्वेहिं णिरुसुयंधेहि ।
गुरुउवएसेण फुडं संपण्णं सव्वमंतेहिं ॥ ४४३ ॥

आलिखेत् सिद्धचक्रं पट्टे द्रव्यैः निःसुगन्धैः ।
गुरूपदेशेन स्फुटं संपन्नं सर्वमंत्रैः ॥

सोलदलकमलमज्झे अरिहं विलिहेह विंदुकलसहियं।
वंभेण वेढइत्ता उवरिं पुणु मायवीएण ॥ ४४४ ॥

षोडशदलकमलमध्ये अर्हं विलिखेत् विन्दुकलसहितं।
ब्रह्मणा वेष्टयित्वा उपरि पुनः मायाबीजेन ॥

सोलससरेहि वेढहु देहवियप्पेण अट्ठवग्गा वि।
अट्ठहि दलेहि सुपयं अरिहंताणं णमो सहियं ॥ ४४५ ॥

षोडशस्वरैः वेष्ट्य देहविकल्पेन अष्टवर्गानपि।
अष्टभिर्दलैः सुपदं अर्हद्भ्यो नमः सहितं ॥

मायाए तं सव्वं तिउणं वेढेह अंकुसारूढं।
कुणह धरामंडलयं वाहिरयं सिद्धचक्कस्स ॥ ४४६ ॥

मायया तत्सर्वं त्रिगुणं वेष्टयेत् अंकुशारुद्धं।
कुर्यात् धरामण्डलकं वाह्यं सिद्धचक्रस्य ॥

इय संखेवं कहियं जो पूयइ गंधदीवधूवेहिं।
कुसुमेहि जवइ णिच्चं सो हणइ पुराणयं पावं ॥ ४४७ ॥

इति संक्षेपेण कथितं यः पूजयति गन्धदीपधूपैः।
कुंसुमैः जपति नित्यं स हन्ति पुराणकं पापं ॥

जो पुणु वड्डद्दो(द्धा)रो सव्वो भणिओ हु सिद्धचक्कस्स।
सो एइं ण उद्धरिओ इण्हि सामग्गि ण उ तस्स ॥ ४४८ ॥

यः पुनः वृहदुद्धारो सर्वो भणितो हि सिद्धचक्रस्य।
सोऽत्र न उद्धर्तव्य इदानीं सामग्री न च तस्य ॥

१ सोलहदलकंजमंज्झे. ख.। २ वेड्ढत्ता क.। ३ पुराकयं ख.। पुराकृतं।
४ वट्टद्धारो। ५ इत्थ. ख.।

जइ पुज्जइ को वि णरो उद्धारित्ता गुरूवएसेण ।
अट्टदलविउणतिउणं चउग्गुणं बाहिरे कंजे ॥ ४४९ ॥

यदि पूजयति कोऽपि नर उद्धार्य गुरूपदेशेन ।
अष्टदलद्विगुणत्रिगुणं चतुर्गुणं बाह्ये कंजे ॥

मज्झे अरिहं देवं पंचपरमेट्ठिमंतसंजुत्तं ।
लहिऊण कण्णियाए अट्टदले अट्टदेवीओ ॥ ४५० ॥

मध्ये अर्हं देवं पंचपरमेष्ठिमंत्रयुक्तं ।
लिखित्वा कर्णिकायां अष्टदले अष्टदेवीः ॥

सोलहदलेसु सोलहविज्जादेवीउ मंतसहियाओ ।
चउवीसं पत्तेसु य जक्खा जक्खी य चउवीसं ॥ ४५१ ॥

षोडशदलेषु षोडशविद्यादेवीः मंत्रसहिताः ।
चतुर्विंशतौ पत्रेषु च यक्षान् यक्षीश्च चतुर्विंशतिं ॥

बत्तीसा अमरिंदा[1] लिहेह बत्तीसकंजपत्तेसु ।
णियणियमंतपउत्ता गणहरवलएण वेढेह ॥ ४५२ ॥

द्वात्रिंशतममरेन्द्रान् लिखेत् द्वात्रिंशत्कंजपत्रेषु ।
निजनिजमंत्रप्रयुक्तान् गणधरवलयेन वेष्टयेत् ॥

सत्तप्पयाररेहा सत्त वि विलिहेह वंज्जसंजुत्ता ।
चउरंसो चउदारा कुणह पयत्तेण जुत्तीए ॥ ४५३ ॥

सप्तप्रकाररेखाः सप्तापि विलिखेत् वज्रसंयुक्ताः ।
चतुरंशांश्चतुर्द्वारान् कुर्यात् प्रयत्नेन युक्त्या ॥

एवं जंतुद्धारं इत्थं मइ अक्खियं समासेण ।
सेसं किं पि विहाणं णायव्वं गुरुपसाएण ॥ ४५४ ॥

---

1 कप्पेंदा ख. । कल्पेन्द्रान् ।

एवं यंत्रोद्धारं इत्थं मया कथितं समासेन।
शेपं किमपि विधानं ज्ञातव्यं गुरुप्रसादेन ॥

अट्ठविहअच्चणाए पुज्जेयव्वं इमं खु णियमेण।
दव्वेहिं सुअंधेहि य लिहियव्वं अइपवित्तेहिं ॥ ४५५ ॥

अष्टविधार्चनया पूजितव्यं इदं खलु नियमेन।
द्रव्यैः सुगन्धैश्च लेखितव्यं अतिपवित्रैः ॥

जो पुज्जइ अणवरयं पावं णिद्दहइ आसिभवबद्धं।
पडिदिणकयं च विहुणइ बंधइ पउराइं पुण्णाइं ॥ ४५६ ॥

यः पूजयति अनवरतं पापं निर्दहति पूर्वभवबद्धं।
प्रतिदिनकृतं च विहन्ति बध्नाति प्रचुराणि पुण्यानि ॥

इह लोए पुण मंता सव्वे सिज्झंति पढियमित्तेण।
विज्जाओ सव्वाओ हवंति फुडु साणुकूलाओ ॥ ४५७ ॥

इहलोके पुनर्मंत्राः सर्वे सिद्ध्यन्ति पठितमात्रेण।
विद्याः सर्वा भवन्ति स्फुटं सानुकूलाः ॥

गहभूयडायणीओ सव्वे णासंति तस्स णामेण।
णिव्विसियरणं पयडइ सुसिद्धचक्कप्पहावेण ॥ ४५८ ॥

ग्रहभूतपिशाचिन्यः सर्वा नश्यन्ति तस्य नाम्ना।
निर्विषीकरणं प्रकटयति सुसिद्धचक्रप्रभावेन ॥

वसियरणं आइट्ठी थंभं णेहं[1] च संतिकम्माणि।
णाणाजराण हरणं कुणेइ तं झाणजोएण ॥ ४५९ ॥

वशीकरणं आकृष्टिं स्तम्भनं स्नेहं शान्तिकर्म।
नानाजराणां हरणं करोति तद्ध्यानयोगेन ॥

१ कोहं ख.।

पहरंति ण तस्स रिउणा सत्तू मित्तत्तणं च उवयादि ।
पुज्जा हवेइ लोए सुवल्लहो णरवरिंदाणं ॥ ४६० ॥
प्रहरन्ति न तस्य रिपवः शत्रुः मित्रत्वं च उपयाति ।
पूजा भवति लोके सुवल्लभो नरवरेन्द्राणां ॥
किं वहुणा उत्तेण य मोक्खं[1] सोक्खं[2] च लब्भई[3] जेण ।
केत्तियमेत्तं एयं सुसाहियं सिद्धचक्केण ॥ ४६१ ॥
किं वहुना उक्तेन च मोक्षः सौख्यं च लभ्यते येन ।
कियन्मात्रमेतत्सुसाधितं सिद्धचक्रेण ॥
अहवा जइ असमत्थो पुज्जइ परमेट्ठिपंचकं चक्कं ।
तं पायडं खु लोए इच्छियफलदायगं परमं ॥ ४६२ ॥
अथवा यद्यसमर्थः पूजयेत् परमेष्ठिपंचकं चक्रं ।
तत् प्रकटं खलु लोके इच्छितफलदायकं परमं ॥
सिररेहभिण्णसुण्णं चंदुकलाविंदुएण संजुत्तं ।
मॆत्ताहिवउवरगयं[4] सुवेढियं कामवीएण ॥ ४६३ ॥
शिरोरेफभिन्नशून्यं चन्द्रकलाविन्दुकेन संयुक्तं ।
मात्राधिकोपरिगतं ? सुवेष्टितं कामवीजेन ॥
वामदिसाइं णयारं मयारसविसग्गदाहिणे भाए ।
वहिअट्ठपत्तकमलं तिउणं वेढह मायाए ॥ ४६४ ॥
वामदिशायां नकारं मकारसविसर्गदक्षिणे भागे ।
वहिरष्टपत्रकमलं त्रिगुणं वेष्टयेत् मायया ॥
पणमंति मुत्तिमेगे अरहंतपयं दलेसु सेसेसु ।
धरणीमंडलमज्झे झाएह सुरच्चियं चक्कं ॥ ४६५ ॥

---

१ मग्गं ख. । २ मोक्खं ख. । ३ ए. ख. । ४ मंताहिव ख'

प्रणव इति ? मूर्तिमेकस्मिन् ? अर्हत्पदं दलेषु शेषेषु ।
धरणीमण्डलमध्ये ध्यायेत् सुरार्चितं चक्रं ॥

अह एउणवण्णासे कोट्ठे काऊण विउलरेहाहिं ।
अयरोइअक्खराइं कमेण विण्णिसहं सव्वाइं ॥ ४६६ ॥

अथवा एकोनपंचाशान् कोष्टान् कृत्वा विपुलरेखाभिः ।
अतिरोच्यक्षराणि क्रमेण विनिवेशय सर्वाणि ॥

ता णिसहं जहयारं मज्झिमठाणेसु ठाइ जुत्तीए ।
वेढह वीएण पुणो इलमंडलउयरमज्झत्थं ॥ ४६७ ॥

तावत् निवेशय यथाकारं मध्यमस्थानेषु स्थापय युक्त्या ।
वेष्टय वीजेन पुनः इलामण्डलोदरमध्यस्थं ॥

एए जंतुद्धारे पुज्जह परमेट्ठिपंचअहिहाणे ।
इच्छइ फलदायारो पावघणपडलहंतारो ॥ ४६८ ॥

एतान् यंत्रोद्धारान् पूजयेत् परमेष्ठिपंचाभिधाना[१] ।
इच्छितफलदातॄन् पापघनपटलहन्तॄन् ॥

अट्ठविहच्चण काउं पुव्वपउत्तम्मि ठावियं पडिमा ।
पुज्जेह तग्गयमणो विविहहि पुज्जाहिं भत्तीए ॥ ४६९ ॥

अष्टविधार्चनां कृत्वा पूर्वप्रोक्ते स्थापितां प्रतिमां ।
पूजयेत् तद्गतमनाः विविधाभिः पूजाभिः भक्त्या ॥

पसमइ रयं असेसं जिणपयकमलेसु दिण्णजलधारा ।
भिंगारणालणिग्गय भवंतभिंगेहि कव्वुरिया ॥ ४७० ॥

प्रशमति रजः अशेषं जिनपदकमलेषु दत्तजलधारा ।
भृंगारनालनिर्गता भ्रमद्भृंगैः कर्बुरिता ॥

---

१ इ. ख. । २ ठाविउं—स्थापयित्वा ख. ।

चंदणसुअंधलेओ जिणवरचलणेसु जो कुणइ भविओ ।
लहइ तणू विक्किरियं सहावसुयंधयं अमलं ॥ ४७१ ॥
चन्दनसुगन्धलेपं जिनवरचरणेषु यः करोति भव्यः ।
लभते तनुं वैक्रियिकं स्वभावसुगन्धकं अमलं ॥

पुण्णाणं पुज्जेहि य अक्खयपुंजेहि देवपयपुरओ ।
लब्भंति णवणिहाणे सुअक्खए चक्कवट्टित्तं ॥ ४७२ ॥
पुर्णैः पूजयेच्च अक्षतपुंजैः देवपदपुरतः ।
लभ्यन्ते नवनिधानानि स्वक्षयानि चक्रवर्तित्वं ॥

अलिचुंबिएहिं पुज्जइ जिणपयकमलं च जाइमल्लीहिं ।
सो हवइ सुरवरिंदो रमेइ सुरतरुवरवणेहिं ॥ ४७३ ॥
अलिचुम्बितैः पूजयति जिनपदकमलं च जातिमल्लिकैः ।
स भवति सुरवेन्द्रः रमते सुरतरुवरवनेषु ॥

दहिखीरसप्पिसंभवउत्तमचरुएहिं पुज्जए जो हु ।
जिणवरपायपओरुह सो पावइ उत्तमे भोए ॥ ४७४ ॥
दधिक्षीरसर्पिःसंभवोत्तमचरुकैः पूजयेत् यो हि ।
जिनवरपादपयोरुहं स प्राप्नोति उत्तमान् भोगान् ॥

कप्पूरतेल्लपयलियमंदमरुपहयणडियदीवेहिं ।
पुज्जइ जिणपयपोमं ससिसूरविसमतणुंलहई ॥ ४७५ ॥
कर्पूरतेलप्रज्वलितमन्दमरुत्प्रहतनटितदीपैः ।
पूजयति जिनपदपद्मं शशिसूर्यसमतनुं लभते ॥

सिल्लारसअयरुमीसियणिग्गयधूवेहिं बहलधूमेहिं ।
धूवइ जो जिणचरणेसु लहइ सुहवत्तणं तिजए ॥ ४७६ ॥

---

१ नवनिहाणे ख । २ पुण अक्खये ख. । ३ जिणपयजुयलं ख । ४ सिल्हार सगुरु. ख । ५ सुहवत्तणं तिजाइ ख, सुहवत्तूणं तिजएगं क ।

सिल्हारसागुरुमिश्रितनिर्गतधूपैः बहलधूम्रैः ।
धूपयेद्यः जिनचरणेषु लभते शुभवर्तनं त्रिजगति ॥

पक्केहिं रसड्ढसुमुज्जलेहिं जिणचरणपुरओप्पविएहिं ।
णाणाफलेहिं पावइ पुरिसो हियइच्छयं सुफलं ॥ ४७७ ॥

पक्कैः रसाढ्यैः समुज्वलैः जिनवरचरणपुरतउपयुक्तैः ।
नानाफलैः प्राप्नोति पुरुषः हृदयेप्सितं सुफलं ॥

इय अट्ठभेयअच्चण काउं पुण जवह मूलविज्जा य ।
जा जत्थ जहाउत्ता सयं च अट्ठोत्तरं जावा ॥ ४७८ ॥

इत्यष्टभेदार्चनं कृत्वा पुनः जपेत् मूलविद्यां च ;
यां यत्र यथोक्तां शतं चाष्टोत्तरं जापं ॥

किच्चा काउस्सग्गं देवं झाएह समवसरणत्थं ।
लद्धट्ठपाडिहेरं णवकेवललद्धिसंपुण्णं ॥ ४७९ ॥

कृत्वा कायोत्सर्गं देवं ध्यायेत् समशरणस्थं ।
लब्धाष्टप्रातिहार्यं नवकेवललब्धिसम्पूर्णं ॥

णट्ठचउ[1]घाइकम्मं केवलणाणेण मुणियतियलोयं ।
परमेट्ठी अरिहंतं परमप्पं परमझाणत्थं ॥ ४८० ॥

नष्टचतुर्घातिकर्माणं केवलज्ञानेन ज्ञातत्रिलोकं ।
परमेष्ठिनमर्हन्तं परमात्मानं परमध्यानस्थं ॥

झाणं झाऊण पुणो मज्झाणियवंदणं[2]त्थ काऊणं ।
उवसंहरिय विसज्जउ जे पुव्वावाहिया देवा ॥ ४८१ ॥

ध्याने ध्यात्वा पुनः मध्यान्हिकवन्दनामत्र कृत्वा ।
उपसंहृत्य विसर्जयेत् यान् पूर्वमाहूतान् देवान् ॥

---

१ घण ख. चउट्ठ क । २ वंदणं च ख. ।

एणविहाणेण फुडं पुज्जा जो कुणइ भत्तिसंजुत्तो ।
सो डहइ णियं पावं बंधइ पुण्णं तिजयखोहं ॥ ४८२ ॥

एतद्विधानेन स्फुटं पूजां यः करोति भक्तिसंयुक्तः ।
स दहति निजं पापं बध्नाति पुण्यं त्रिजगत्क्षोभं ॥

उववज्जइ दिवलोए भुंजइ भोए मणिच्छिए इट्ठे ।
वहुकालं चविय पुणो उत्तममणुयत्तणं लहई ॥ ४८३ ॥

उत्पद्यते स्वर्गलोके भुंक्ते भोगान् मनइच्छितान् इष्टान् ।
वहुकालं च्यूत्वा पुनः उत्तममनुष्यत्वं लभते ॥

होऊण चक्कवट्टी चउदहरयणेहि णवणिहाणेहिं ।
पालिय छक्खंडधरा भुंजिय भोए णिरुगरिट्ठा ॥ ४८४ ॥

भूत्वा चक्रवर्ती चतुर्दशरत्नैर्नवनिधानैः ।
पालयित्वा षट्खण्डधरां भुक्त्वा भोगान् निर्गरिष्ठान् ॥

संपत्तबोहिलाहो रज्जं परिहरिय भविय णिग्गंथो ।
लहिऊण सयलसंजम धरिऊण महव्वथा पंच ॥ ४८५ ॥

संप्राप्तबोधिलाभः राज्यं परिहृत्य भूत्वा निर्ग्रन्थः ।
लब्ध्वा सकलसंयमं धृत्वा महाव्रतानि पंच ॥

लहिऊण सुक्कझाणं उप्पाइय केवलं वरं णाणं ।
सिज्झेइ णट्ठकम्मो अहिसेयं लहिय मेरुम्मि ॥ ४८६ ॥

लब्ध्वा शुक्लध्यानं उत्पाद्य केवलं वरं ज्ञानं ।
सिद्ध्यति नष्टकर्मा अभिषेकं लब्ध्वा मेरौ ॥

इय णाऊण विसेसं पुण्णं आयरइ कारणं तस्स ।
पावहणं जाम सयलं संजमयं अप्पमत्तं च ॥ ४८७ ॥

इति ज्ञात्वा विशेषं पुण्यं अर्जयेत् कारणं तस्य ।
पापघ्नं यावत् सकलं संयमं अप्रमत्तं च ॥

भावह अणुव्वयाइं पालह सीलं च कुणह उववासं ।
पव्वे पव्वे णियमं दिज्जह अणवरह दाणाइं ॥ ४८८ ॥

भावयेत् अणुव्रतानि पालयेत् शीलं च कुर्यादुपवासं ।
पर्वे पर्वे नियमं दद्यात् अनवरतं दानानि ॥

अभयपयाणं पढमं विदियं तह होइ सत्थदाणं च ।
तइयं ओसहदाणं आहारदाणं चउत्थं च ॥ ४८९ ॥

अभयप्रदानं प्रथमं द्वितीयं भवति शास्त्रदानं च ।
तृतीयं त्वौषधदानं आहारदानं चतुर्थं च ॥

सव्वेसिं जीवाणं अभयं जो देइ मरणभीरूणं ।
सो णिब्भओ तिलोए उत्तस्मो होइ सव्वेसिं ॥ ४९० ॥

सर्वेषां जीवानां अभयं यो ददाति मरणभीरूणां ।
स निर्भयः त्रिलोके उत्कृष्टो भवति सर्वेषां ॥

सुयदाणेण य लब्भइ मइसुइणाणं च ओहिमणणाणं ।
बुद्धितवेण य सहियं पच्छा वरकेवलं णाणं ॥ ४९१ ॥

श्रुतदानेन च लभते मतिश्रुतज्ञानं च अवधिमनोज्ञानं ।
बुद्धितपोभ्या च सहितं पश्चाद्वरकेवलं ज्ञानं ॥

ओसहदाणेण णरो अतुलियबलपरक्कमो महासत्तो ।
वाहिविमुक्कसरीरो चिराउ सो होइ तेयड्ढो ॥ ४९२ ॥

---

१ अस्मादग्रे. ख–पुस्तके "उक्तं च"—
ज्ञानवान् ज्ञानदानेन, निर्भयोऽभयदानतः ।
अन्नदानात्सुखी नित्यं, निर्व्याधिः भेषजाद्भवेत् ॥

औषधदानेन नरोऽतुलितबलपराक्रमो महासत्वः ।
व्याधिविमुक्तशरीरश्चिरायुः स भवति तेजस्थः ॥

दाणस्साहार फलं को सक्कइ वण्णिऊण भुवणयले ।
दिण्णेण जेण भोआ लब्भंति मणिच्छिया सव्वे ॥ ४९३ ॥

दानस्य आहारस्य फलं कः शक्नोति वर्णयितुं भुवनतले ।
दत्तेन येन भोगा लभ्यन्ते मनइच्छिताः सर्वे ॥

दायारो वि य पत्तं दाणविसेसो तहा विहाणं च ।
एए चउअहियारा णायव्वा होंति भव्वेण ॥ ४९४ ॥

दातापि च पात्रं दानविशेषस्तथा विधानं च ।
एते चतुरधिकारा ज्ञातव्या भवन्ति भव्येन ॥

दायारो उवसंतो मणवयकाएण संजुओ दच्छो ।
दाणे कयउच्छाहो पयडिय[1]वरछग्गुणो अमयो ॥ ४९५ ॥

दाता उपशान्तो मनोवचनकायेन संयुक्तो दक्षः ।
दाने कृतोत्साहः प्रकटितवरषड्गुणः अमयः ॥

भत्ती तुट्टी य खमा सद्धा सत्तं च लोहपरिचाओ ।
विण्णाणं तक्काले सत्तगुणा होंति दायारे ॥ ४९६ ॥

भक्तिः तुष्टिः क्षमा श्रद्धा सत्वं च लोभपरित्यागः ।
विज्ञानं तत्काले सप्तगुणा भवन्ति दातरि ॥

तिविहं भणंति पत्तं मज्झिम तह उत्तमं जहण्णं च ।
उत्तमपत्तं साहू मज्झिमपत्तं च सावया भणिया ॥ ४९७ ॥

त्रिविधं भणन्ति पात्रं मध्यमं तथोत्तमं जघन्यं च ।
उत्तमपात्रं साधुः मध्यमपात्रं च श्रावका भणिताः ॥

---

१ विणइ ख. विनयी ।

अविरइसम्मादिट्ठी जहण्णपत्तं तु अक्खियं समये ।
णाउं पत्तविसेसं दिज्जह दाणाइं भत्तीए ॥ ४९८ ॥

अविरतसम्यग्दृष्टिः जघन्यपात्रं तु कथितं समये ।
ज्ञात्वा पात्रविशेषं दद्यात् दानानि भक्त्या ॥

मिच्छादिट्ठी पुरिसो दाणं जो देइ उत्तमे पत्ते ।
सो पावइ वरभोए फुड्डु उत्तमभोयभूमीसु ॥ ४९९ ॥

मिथ्यादृष्टिः पुरुषो दानं यो ददाति उत्तमे पात्रे ।
स प्राप्नोति वरभोगान् स्फुटं उत्तमभोगभूमीषु ॥

मज्झिमपत्ते मज्झिमभोयभूमीसु पावए भोए ।
पावइ जहण्णभोए जहण्णपत्तस्स दाणेण ॥ ५०० ॥

मध्यमपात्रे मध्यमभोगभूमिषु प्राप्नोति भोगान् ।
प्राप्नोति जघन्यभोगान् जघन्यपात्रस्य दानेन ॥

उत्तमछित्ते वीयं फलइ जहा लक्खकोडिगुणेहिं ।
दाणं उत्तमपत्ते फलइ तहा किमिच्छभणिएण ॥५०१॥

उत्तमक्षिते बीजं फलति यथा लक्षकोटिगुणैः ।
दानं उत्तमपात्रे फलति तथा किमिच्छभणितेन ॥

सम्मादिट्ठी पुरिसो उत्तमपुरिसस्स दिण्णदाणेण ।
उववज्जइ दिवलोए हवइ स महड्डिओ देओ ॥ ५०२ ॥

सम्यग्दृष्टिः पुरुष उत्तमपुरुषस्य दत्तदानेन ।
उपपद्यते स्वर्गलोके भवति स महर्द्धिको देवः ॥

जहणीरं उच्छुगयं कालं परिणवइ अमयरूवेण ।
तह दाणं वरपत्ते फलेइ भोएहिं विविहेहिं ॥ ५०३ ॥

१—४९९ और ५०० गाथासूत्रयोः ख—पुस्तके पौर्वापर्य ।

यथा नीरमिक्षुगतं काले परिणमति अमृतरूपेण ।
तथा दानं वरपात्रे फलति भोगैः विविधैः ॥

उत्तमरयणं खु जहा उत्तमपुरिसासियं च बहुमुल्लं ।
तह उत्तमपत्तगयं दाणं णिउणेहि णायव्वं ॥ ५०४ ॥

उत्तमरत्नं खलु यथा उत्तमपुरुषाश्रितं च बहुमूल्यं ।
तथोत्तमपात्रगतं दानं निपुणैः ज्ञातव्यं ॥

किं[1] किंचि वि वेयमयं किंचि वि पत्तं तवोमयं परमं[2] ।
तं पत्तं संसारे तारणयं होइ[3] णियमेण ॥ ५०५॥

किं किंचिदपि वेदमयं किंचिदपि पात्रं तपोमयं परमं ।
तत्पात्रं संसारे तारकं भवति नियमेन ॥

वेओ किल सिद्धंतो तस्सद्दा णवपयत्थछदव्वं[4] ।
गुणमग्गणठाणा वि य जीवट्ठाणाणि सव्वाणि ॥ ५०६ ॥

वेदः किल सिद्धान्तः तस्यार्थान्नवपदार्थषड्द्रव्याणि ।
गुणमार्गणास्थानान्यपि च जीवस्थानानि सर्वाणि ॥

परमप्पयस्स रूवं जीवकम्माण उहयसब्भावं ।
जो जाणइ सविसेसं वेयमयं होइ तं पत्तं ॥ ५०७॥

परमात्मनो रूपं जीवकर्मणोरुभयोः स्वभावं ।
यो जानाति सविशेषं वेदमयं भवति तत्पात्रं ॥

बहिरब्भंतरतवसा कालो परिखवइ जिणोवएसेण ।
दिढबंभचेर णाणी पत्तं तु तवोमयं भणिय ॥ ५०८ ॥

बाह्याभ्यन्तरतपसा कालं परिक्षिपति जिनोपदेशेन ।
दृढब्रह्मचर्यो ज्ञानी पात्रं तु तपोमयं भणितं ॥

---

१ किंचि वि वेयमयं पत्तं ख. २ भणियं. ख. । ३ होंति ख. । ४ व्वा ख. ।

जह णावा णिच्छिद्दा गुणमइया विविहरयणपरिपुण्णा ।
तारइ पारावारे बहुजलयरसंकडे भीमे ॥ ५०९ ॥

यथा नौः निश्छिद्रा गुणमया विविधरत्नपरिपूर्णा ।
तारयति पारावारे बहुजलचरसंकटे भीमे ॥

तह संसारसमुद्दे जाइजरामरणजलयराइण्णे ।
दुक्खसहस्सावत्ते तारेइ गुणाहियं पत्तं ॥ ५१० ॥

तथा संसारसमुद्रे जातिजरामरणजलचराकीर्णे ।
दुःखसहस्रावर्ते तारयति गुणाधिकं पात्रं ॥

कुच्छिगयं जस्सण्णं जीरइ तवझाणबंभचरिएहिं ।
[1]सो पत्तो णित्थारइ अप्पाणं चेव दायारं ॥ ५११ ॥

कुक्षिगतं यस्यान्नं जीर्यते तपोध्यानब्रह्मचर्यैः ।
तत्पात्रं निस्तारयति आत्मानं चैव दातारं ॥

एरिसपत्तम्मि वरे दिज्जइ आहारदाणमणवज्जं ।
पासुयसुद्धं अमलं जोग्गं मणदेहसुक्खयरं ॥ ५१२ ॥

एतादृशपात्रे वरे दद्यात् आहारदानमनवद्यं ।
प्रासुकशुद्धं अमलं योग्यं मनोदेहसुखकरं ॥

कालस्स य अणुरूवं रोयारोयत्तणं च णाऊणं ।
दायव्वं जहजोग्गं आहारं गेहवंतेण ॥ ५१३ ॥

कालस्य चानुरूपं रोगारोगत्वं ज्ञात्वा ।
दातव्यं यथायोग्यं आहारं गृहवता ॥

पत्तस्सेस सहावो जं दिण्णं दायगेण भत्तीए ।
तं करपत्ते सोहिय गहियव्वं विगयराएण ॥ ५१४ ॥

---

१ तं पत्तं ख ।

पात्रस्यैष स्वभावो यद्दत्तं दायकेन भक्त्या ।
तत्करपात्रे शोधयित्वा गृहीतव्यं विगतरागेन ॥

दायारेण पुणो वि य अप्पाणो सुक्खमिच्छमाणेण ।
देयं उत्तमदाणं विहिणा वरणीयसत्तीए ॥ ५१५ ॥

दात्रा पुनरपि च आत्मनः सुखमिच्छता ।
देयं उत्तमदानं विधिना वर्णितशक्त्या ॥

जो[1] पुण हुंतइ धणकणइं[2] मुणिहिं कुभोयणु देइ ।
जम्मि जम्मि दालिद्दडउ पुट्ठिं ण तहो छंडेइ ॥ ५१६ ॥

यः पुनः सति धनकनके मुनिभ्यः कुभोजनं ददाति ।
जन्मनि जन्मनि दारिद्र्यं पृष्ठिं न तस्य त्यजति ॥

देहो पाणा रूवं विज्जा धम्मं तवो सुहं मोक्खं ।
सव्वं दिण्णं णियमा हवेइ आहारदाणेणं ॥ ५१७ ॥

देहः प्राणा रूपं विद्या धर्मः तपः सुखं मोक्षः ।
सर्वं दत्तं नियमात् भवेत् आहारदानेन ॥

भुक्खसमा ण हु वाही अण्णसमाणं च ओसहं णत्थि ।
तम्हा आहारदाणे आरोयत्तं हवे दिण्णं ॥ ५१८ ॥

बुभुक्षासमो न हि व्याधिः अन्नसमानं च औषधं नास्ति ।
तस्मादाहारदानेन आरोग्यत्वं भवेद्दत्तं ॥

आहारमओ देहो आहारेण विणा पडेइ णियमेण ।
तम्हा जेणाहारो दिण्णो देहो हवे तेण ॥ ५१९ ॥

आहारमयो देह आहारेण विना पतति नियमेन ।
तस्माद्येनाहारो दत्तो देहो भवेत्तेन ॥

---

१ इदं दोहकं ख—पुस्तके उक्तं चेति लिखित्वा लिखितं । २ कणधणइं ख. ।

ता देहो ता पाणा ता रूवं ताम णाणविण्णाणं ।
जामाहारो पविसइ देहे जीवाण सुक्खयरो ॥ ५२० ॥

तावद्देहस्तावत्प्राणास्तावद्रूपं तावज्ज्ञानविज्ञानं ।
यावदाहारो प्रविशति देहे जीवानां सुखकरः ॥

आहारसणे देहो देहेण तवो तवेण रयसडणं ।
रयणासेण य णाणं णाणे मुक्खो जिणो भणई ॥ ५२१ ॥

आहाराशने देहो देहेन तपस्तपसा रजःसटनं ।
रजोनाशेन च ज्ञानं ज्ञाने मोक्षो जिनो भणति ॥

चउविहदाणं उत्तं जं तं सयलमवि[1] होइ इह दिण्णं ।
सविसेसं दिण्णेण य इक्केणाहारदाणेण ॥ ५२२ ॥

चतुर्विधदानं उक्तं यत् तत्सकलमपि भवति इह दत्तं ।
सविशेषं दत्तेन च एकेनाहारदानेन ॥

भुक्खाकयमरणभयं णासइ जीवाण तेण तं अभयं ।
सो एव हणइ वाही उसहं तेण आहारो ॥ ५२३ ॥

बुभुक्षाकृतमरणभयं नाशयति जीवानां तेन तदभयं ।
स एव हन्ति व्याधिं[2] औषधं तेनाहारः ॥

आयाराईसत्थं आहारवलेण पढइ णिस्सेसं ।
तम्हा तं सुयदाणं दिण्णं आहारदाणेण ॥ ५२४ ॥

आचारादिशास्त्रं आहारबलेन पठति निःशेषं ।
तस्मात् तच्छ्रुतदानं दत्तं आहारदानेन ॥

हयगयगोदाणाइं धरणीरयकणयजाणदाणाइं[3] ।
तित्तिं ण कुणंति सया जह[4] तित्तिं कुणइ आहारो ॥ ५२५ ॥

---

१ सयलं पि ख. । २ क्षुद्व्याधिं । ३ धरणीरयकणयरयणदाणाइं ख. । ४ जेण क. ।

हयगजगोदानानि धरणीरत्नकनकयानदानानि ।
तृप्तिं न कुर्वन्ति सदा यथा तृप्तिं करोति आहारः ॥

जह रइणाणं वइरं सेलेसु य उत्तमो जहा मेरू ।
तह दाणाणं पवरो आहारो होइ णायव्वो ॥ ५२६ ॥

यथा रत्नानां वज्रं शैलेषु च उत्तमो यथा मेरुः ।
तथा दानानां प्रवर आहारो भवति ज्ञातव्यः ॥

सो दायव्वो पत्ते विहाणजुत्तेण सा विही एसा ।
पडिगहमुच्चट्ठाणं पादोदयअंचणं च पणमं च ॥ ५२७ ॥

स दातव्यः पात्रे विधानयुक्तेन स विधिरेषः ।
प्रतिग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं च प्रणामं च ॥

मणवयणकायसुद्धी एसणसुद्धी य परम कायव्वा ।
होइ फुडं आयरणं णवव्विहं पुव्वकम्मेण ॥ ५२८ ॥

मनवचनकायशुद्धिरेषणशुद्धिश्च परमा कर्तव्या ।
भवति स्फुटमाचरणं नवविधं पूर्वकर्मणा ॥

एवं विहिणा जुत्तं देयं दाणं तिसुद्धभत्तीए ।
वज्जिय कुच्छियपत्तं तह य अपत्तं च णिस्सारं ॥ ५२९ ॥

एवं विधिना युक्तं देयं दानं त्रिशुद्धभक्त्या ।
वर्जयित्वा कुत्सितपात्रं तथा चापात्रं च निःसारं ॥

जं रयणत्तयरहियं मिच्छामयकहियधम्मअणुलग्गं ।
जइ वि हु तवइ सुघोरं तहा वि तं कुच्छियं पत्तं ॥५३०॥

यद्रत्नत्रयरहितं मिथ्यामतकथितधर्मानुलग्नं ।
यद्यपि हि तप्यते सुघोरं तथापि तत्कुत्सितं पात्रं ॥

---

१ विहिणा ख. विधिना । २ पुन्न. ख. पुण्य । ३ सहियं क–पुस्तके । ४ यम. क. ।

जस्स ण तवो ण चरणं ण चावि जस्सत्थि वरगुणो कोई ।
तं जाणेह अपत्तं अफलं दाणं कयं तस्स ॥ ५३१ ॥
यस्य न तपो न चरणं न चापि यस्यास्ति वरगुणः कश्चित् ।
तज्जानीयादपात्रमफलं दानं कृतं तस्य ॥

ऊसरखित्ते वीयं सुक्खे रुक्खे य णीरअहिसेओ ।
जह तह दाणमवत्ते दिण्णं खु णिरत्थयं होई ॥ ५३२ ॥
ऊपरक्षेत्रे वीजं शुष्के वृक्षे च नीराभिषेकः ।
यथा तथा दानमपात्रे दत्तं खलु निरर्थकं भवति ॥

कुच्छियपत्ते किंचि वि फलइ कुदेवेसु कुणरतिरिएसु ।
कुच्छियभोयधरासु य लवणंवुहिकालउवहीसु ॥ ५३३ ॥
कुत्सितपात्रे किंचिदपि फलति कुदेवेषु कुनरतिर्यक्षु ।
कुत्सितभोगधरासु च लवणाम्बुधिकालोदधिषु ॥

लवणे अडयालीसा कालसमुद्दे य तित्तिया चेव ।
अंतरदीवा भणिया कुभोयभूमीय विक्खाया ॥ ५३४ ॥
लवणे अष्टचत्वारिंत् कालसमुद्रे च तावन्त एव ।
अन्तर्द्वीपा भणिता कुभोगभूम्या विख्याताः ॥

उप्पज्जंति मणुस्सा कुपत्तदाणेण तत्थ भूमीसु ।
जुवलेण[1] गेहरहिया णग्गा तरुमूलि णिवसंति ॥ ५३५ ॥
उत्पद्यन्ते मनुष्याः कुपात्रदानेन तत्र भूमिषु ।
युगलेन गृहरहिता नग्नाः तरुमूले निवसन्ति ॥

पल्लोवमआउस्सा वत्थाहरणेहि वज्जिया णिच्चं ।
तरुपल्लवपुप्फरसं फलाण रसं चेव भक्खंति ॥ ५३६ ॥

1 जुवलेय ख. ।

पल्योपमायुषः वस्त्राभरणेन वर्जिता नित्यं ।
तरुपल्लवपुष्परसं फलानां रसं चैव भक्षयन्ति ॥

दीवे कहिं पि मणुया सक्करगुडखंडसण्णिहा भूमी ।
भक्खंति पुट्ठिजणया अइसरसा पुव्वकम्मेण[1] ॥ ५३७ ॥

द्वीपे क्वापि मनुजाः शर्करागुडखण्डसन्निभां भूमिं ।
भक्षयन्ति पुष्टिजनकां अतिसरसां पूर्वकर्मणा ॥

केई गयसीहमुहा केई हरिमहिसकेविकोलमुहा ।
केई आदरिसमुहा केई पुण एयपाया य ॥ ५३८ ॥

केचित् गजसिंहमुखाः केचिद्धरिमहिषकपिकोलूकमुखाः ।
केचिदादर्शमुखाः केचित्पुनः एकपादाश्च ॥

ससमुक्कलिकण्णा वि य कण्णप्पावरणदीहकण्णा य ।
लंगूलधरा अवरे अवरे मणुया अभासा य ॥ ५३९ ॥

शशशस्कुलिकर्णा अपि च कर्णप्रावरणदीर्घकर्णाश्च ।
लाङ्गूलधरा अपरे अपरे मनुष्या अभाषकाश्च ॥

एए णरा पसिद्धा तिरिया वि हवंति कुभोयभूमीसु ।
मणुसुत्तरबाहिरेसु अ असंखदीवेसु ते होंति ॥ ५४० ॥

एते नराः प्रसिद्धाः तिर्यञ्चोऽपि भवन्ति कुभोगभूमिषु ॥
मानुषोत्तरबाह्ये च असंख्यद्वीपेषु ते भवन्ति ॥

सव्वे मंदकसाया सव्वे णिस्सेसवाहिपरिहीणा ।
मरिऊण विंतरा वि हु जोइसुभवणेसु जायंति ॥ ५४१ ॥

सर्वे मन्दकषायाः सर्वे निःशेषव्याधिपरिहीनाः ।
मृत्वा व्यन्तरेष्वपि हि ज्योतिर्भवनेषु जायन्ते ॥

---

१ पुण्योदयेन । २ केई ख—केचित् ।

तत्थ चुया पुणे संता तिरियणरा पुणु हवंति ते सव्वे ।
काऊण तत्थ पावं पुणो वि णिरयावहा होंति ॥ ५४२ ॥

ततश्च्युताः पुनः सन्तः तिर्यङ्नराः पुनः भवन्ति ते सर्वे ।
कृत्वा तत्र पापं पुनरपि नरकपथा भवन्ति ॥

चंडालभिल्लछिंपियडोंवयकल्लाल एवमाईणि ।
दीसंति रिद्धिपत्ता कुच्छियपत्तस्स दाणेण ॥ ५४३ ॥

चण्डालभिल्लछिंपकडोंवकलवारा एवमादिकाः ।
दृश्यन्ते ऋद्धिप्राप्ताः कुत्सितपात्रस्य दानेन ॥

केई पुण गयतुरया गेहे रायाण उण्णई पत्ता ।
दिस्संति मच्चलोए कुच्छियपत्तस्स दाणेण ॥ ५४४ ॥

केचित्पुनः गजतुरगा गृहे राज्ञां उन्नतिं प्राप्ताः ।
दृश्यन्ते मर्त्यलोके कुत्सितपात्रस्य दानेन ॥

केई पुण दिवलोए उववण्णा वाहणत्तणेण ते मणुया ।
सोयंति जाइदुक्खं पिच्छिय रिद्धी सुदेवाणं ॥ ५४५ ॥

केचित्पुनः स्वर्गलोके उत्पन्ना वाहनत्वेन ते मनुजाः ।
सोचन्ति जातिदुःखं प्रेक्ष्य ऋद्धिं सुदेवानां ॥

णाऊण तस्स दोसं सम्माणह मा कया वि सिविणम्मि ।
परिहरह सया दूरं वुहियाण वि सविससप्पं व ॥ ५४६ ॥

ज्ञात्वा तस्य दोषं सम्मानयेन्मा कदापि स्वप्ने ।
परिहरेत् सदा दूरं.......सविषसर्पवत् ? ॥

१ पणसत्ता क. पणासक्ता द्युतरक्ताः । २ णरे ख. । ३ पुण ण ख. । ४ पुण वि ख. । ५ तिरियावहा. ख. । ६ छुहियाण विसविसमण्णं वा ख. ।

पत्थरमेया[1] वि दोणी पत्थरमप्पाणयं च वोलेइ ।
जह तह कुच्छियपत्तं संसारे चेव वोलेइ ॥ ५४७ ॥

प्रस्तरमय्यपि द्रोणी प्रस्तरमात्मानं च निमज्जयति ।
यथा तथा कुत्सितपात्रं संसारे एव निमज्जयति ॥

णावा जह सच्छिद्दा परमप्पाणं च उवहिसलिलम्मि ।
वोलेइ तह कुपत्तं संसारमहोवही भीमे ॥ ५४८ ॥

नौर्यथा सच्छिद्रा परमात्मानं चोदधिसलिले ।
निमज्जयति तथा कुपात्रं संसारमहोदधौ भीमे ॥

लोहमए कुतरंडे लग्गो पुरिसो हु तीरिणीवाहे ।
वुड्डइ जह तह वुड्डइ कुपत्तसम्माणओ पुरिसो ॥ ५४९ ॥

लोहमये कुतरण्डे लग्नः पुरुषो हि तीरणीवाहे ।
मज्जति यथा तथा मज्जति कुपात्रसम्मानकः पुरुषः ॥

ण लहंति फलं गरुयं कुच्छियपहुछित्तं[2]सेविया पुरिसा ।
जह तह कुच्छियपत्ते दिण्णा[3] दाणा मुणेयव्वा ॥ ५५० ॥

न लभन्ते फलं गुरुकं कुत्सितप्रभुच्छुप्तसेवकाः पुरुषाः ।
यथा तथा कुत्सितपात्रे दत्तानि दानानि मन्तव्यानि ॥

णत्थि वयसीलसंजमझाणं तवणियमबंभचेरं च ।
एमेव भणइ पत्तं अप्पाणं लोयमज्झम्मि[4] ॥ ५५१ ॥

---

१ गया क. । २ आलिंखिअ आलिद्धं छिक्कं छित्तं परामुसिअं । इत्येते आश्लिष्टार्थे । ३ दिण्णं दाणं मुणेयव्वं. ख. । ४ अस्मादग्रे गाथैका ख—पुस्तके. ।

कलहग्गगंथधारी दाणमहादाणगहणसंतुट्ठा ।
चवला मुणि बहुभासी सवणो ण होइ सुद्धवयधारी ॥ १ ॥

नास्ति व्रतशीलसंयमध्यानं तपोनियमब्रह्मचर्यं च ।
एवमेव भणति पात्रं आत्मानं लोकमध्ये ॥

मयकोहलोहगहिओ उड्डियहत्थो य जायणासीलो ।
गिहवावारासत्तो[1] जो सो पत्तो कहं हवइ ॥ ५५२ ॥

मदक्रोधलोभगहित उत्थितहस्तश्च याचनाशीलः ।
गृहव्यापारासक्तः यः स पात्रं कथं भवति ॥

हिंसाइदोसजुत्तो अट्टरउद्देहिं गमियअहरत्तो ।
कयविक्कयवट्टंतो इंदियविसएसु लोहिल्लो ॥ ५५३ ॥

हिंसादिदोषयुक्त आर्तरौद्रैः गमिताहोरात्रः ।
क्रयविक्रयवर्तमानः इन्द्रियविषयेषु लुब्धः ॥

उत्तमपत्तं णिंदिय गुरुठाणे अप्पयं पकुव्वंतो ।
होउं पावेण गुरू वुड्डइ पुण कुगइउवहिम्मि ॥ ५५४ ॥

उत्तमपात्रं निन्दित्वा गुरुस्थाने आत्मानं प्रकुर्वन् ।
भूत्वा पापेन गुरुः ब्रुडति पुनः कुगत्युदधौ ॥

जो वोलइ अप्पाणं संसारमहण्णवम्मि गरुयम्मि ।
सो अण्णं कह तारइ तस्साणुमग्गे जणं लग्गं ॥ ५५५ ॥

यः निमज्जयति आत्मानं संसारमहार्णवे गुरुके ।
स अन्यं कथं तारयति तस्यानुमार्गे जनं लग्नं ॥

एवं पत्तविसेसं णाऊणं देह दाणमणवरयं ।
णियजीवसग्गमोक्खं इच्छयमाणो पयत्तेण ॥ ५५६ ॥

एवं पात्रविशेषं ज्ञात्वा देहि दानमनवरतं ।
निजजीवस्वर्गमोक्षमिच्छन् प्रयत्नेन ॥

---

१ गिहवावारमपत्तो ख. ।

लहिऊण संपया जो देइ ण दाणाइं मोहसंछण्णो ।
सो अप्पाणं अप्पे[1] वंचेइ य णत्थि संदेहो ॥ ५५७ ॥

लब्ध्वा सम्पत् यो ददाति न दानादि मोहसंछन्नः ।
स आत्मानं आत्मना वंचयति च नास्ति सन्देहः ॥

ण य देइ णेये[2] भुंजइ अत्थं णिखणेइं[3] लोहसंछण्णो ।
सो तणकयपुरिसो इव रक्खइ सस्सं परस्सत्थे ॥ ५५८ ॥

न च ददाति नैव भुंक्तेऽर्थं निक्षिपति लोभसंच्छन्नः ।
स तृणकृतपुरुष इव रक्षति सस्यं परस्यार्थे ॥

किविणेण संचयधणं ण होइ उवयारियं जहा तस्स ।
महुयरि इव संचियमहु हरंति अण्णे सपाणेहिं ॥ ५५९ ॥

कृपणेन संचितधनं न भवति उपकारकं यथा तस्य ।
मधुकरीव संचितमधु हरन्ति अन्ये सप्राणैः ॥

कस्स थिरा इह लच्छी कस्स थिरं जुव्वणं[4] धणं जीवं ।
इय मुणिऊण सुपुरिसा दिंति सुपत्तेसु दाणाइं ॥ ५६० ॥

कस्य स्थिरेह लक्ष्मीः कस्य स्थिरं यौवनं धनं जीवितं ।
इति ज्ञात्वा सुपुरुषा ददति सुपात्रेषु दानानि ।

दुक्खेण लहइ वित्तं वित्ते लद्धे वि दुल्लहं चित्तं ।
लद्धे चित्ते वित्ते सुदुल्लहो पत्तलंभो य ॥ ५६१ ॥

दुःखेन लभते वित्तं वित्ते लब्धेऽपि दुर्लभं चित्तं ।
लब्धे चित्ते वित्ते सुदुर्लभः पात्रलाभश्च ॥

चित्तं वित्तं पत्तं तिण्णि वि पावेइ कह वि जइ पुरिसो ।
तो ण लहइ अणुकूलं सयणं पुत्तं कलत्तं च ५६२ ॥

---

१ अप्पणं चि य. ख. । २ णय सइं भुंजइ क. । ३ रक्खेइ. ख. । ४ जोवणं ख. ।

चित्तं वित्तं पात्रं त्रीण्यपि प्राप्नोति कथमपि यदि पुरुषः ।
तर्हि न लभतेऽनुकूलं स्वजनं पुत्रं कलत्रं च ॥

पडिकूलमाइ काऊं विग्घं कुव्वंति धम्मदाणस्स ।
उवएसंति दुबुद्धिं दुग्गइगमकारया असुहा ॥ ५६३ ॥

प्रतिकूलमादिं कृत्वा विघ्नं कुर्वन्ति धर्मदानस्य ।
उपदिशन्ति दुर्बुद्धिं दुर्गतिगमकारकामशुभां ॥

सो कह सयणो भण्णइ विग्घं जो कुणइ धम्मदाणस्स ।
दाऊण पावबुद्धी[1] पाडइ दुक्खायरे णरए ॥ ५६४ ॥

स कथं स्वजनो भण्यते विघ्नं यः करोति धर्मदानस्य ।
दत्वा पापबुद्धिं पातयति दुःखाकरे नरके ॥

सो सयणो सो बंधू सो मित्तो जो सहिज्जओ धम्मे ।
जो धम्मविग्घयारी सो सत्तू णत्थि संदेहो ॥ ५६५ ॥

स स्वजनः स बन्धुः स मित्रं यः सहायकः धर्मे ।
यो धर्मविघ्नकारी स शत्रुः नास्ति सन्देहः ॥

ते धण्णा लोयतए तेहि णिरुद्धाइं कुगइगमणाइं ।
वित्तं पत्तं चित्तं पाविवि जहिं दिण्णदाणाइं ॥ ५६६ ॥

ते धन्या लोकत्रये तैर्निरुद्धानि कुगतिगमनानि ।
वित्तं पात्रं चित्तं प्राप्य यैः दत्तदानानि ॥

मुणिभोयणेण दव्वं जस्स गयं जुव्वणं च तवयरणे ।
सण्णासेण य जीवं जस्स गयं किं गयं तस्स ॥ ५६७ ॥

मुनिभोजनेन द्रव्यं यस्य गतं यौवनं च तपश्चरणे ।
सन्यासेन च जीवितं यस्य गतं किं गतं तस्स ॥

---

1 पापोपदेशं ।

जह जह वड्ढइ लच्छी तह तह दाणाइं देह पत्तेसु ।
अहवा हीयइ जह जह देह विसेसेण तह तह य॥ ५६८ ॥

यथा यथा वर्धते लक्ष्मीः तथा तथा दानानि देहि पात्रेषु ।
अथवा हीयते यथा यथा देहि विशेषेण तथा तथा च ॥

जेहिं ण दिण्णं दाणं ण चावि पुज्जा किया जिणिंदस्स ।
ते हीणदीणदुग्गय भिक्खं ण लहंति जायंता ॥ ५६९ ॥

यैर्न दत्तं दानं न चापि पूजा कृता जिनेन्द्रस्य ।
ते हीनदीनदुर्गता भिक्षां न लभन्ते याचमानाः ॥

परपेसणाइं णिच्चं करंति भत्तीए[1] तह य णियपेट्टं ।
पूरंति ण णियघरे परवसगासेण जीवंति ॥ ५७० ॥

परपेषणादिकं नित्यं कुर्वन्ति भक्त्या तथा च निजोदरं ।
पूरयन्ति न निजगृहे परवशग्रासेन जीवन्ति ॥

खंधेण वहंति णरं गासत्थं दीहपंथसमसंता ।
तं चेव विणवंता मुहकयकरविणयसंजुत्ता ॥ ५७१ ॥

स्कन्धेन वहन्ति नरं ग्रासार्थं दीर्घपथसमासक्ताः ।
तमेव विनमन्तः मुखकृतकरविनयसंयुक्ताः ॥

पहु तुम्ह समं जायं कोमलअंगाइं सुट्ठुसुहियाइं ।
इय मुहपियाइं काऊं मलंति पाया सहत्थेहिं ॥ ५७२ ॥

प्रभो ! युष्माकं समं जातानि कोमलाङ्गानि सुष्ठुसुभगानि ।
इति मुखप्रियाणि कृत्वा संवहन्ते पादान् स्वहस्ताभ्यां ॥

---

१ यंत्रेण धान्यदलनादिकर्म । २ यकारवदुच्चारणं अस्य ।

रक्खंति गोगवाइं छेलयखरतुरयछेत्तखलिहाणं ।
तूणंति[1] कप्पडाइं घडंति पिडउल्लयाइं च ॥ ५७३ ॥

रक्षन्ति गोगवादिकं अजाखरतुरगक्षेत्रखलियानान् ।
तुर्णन्ति[3] कर्पटादिकं घटन्ते पिढरादिकानि ॥

धावंति सत्थहत्था उण्हं ण गणंति तह य सीयाइं[5] ।
तुरयमुहफेणसित्ता रयलित्ता गलियपासेया ॥ ५७४ ॥

धावन्ति शस्त्रहस्ता उष्णं न गणयन्ति तथा च शीतादि ।
तुरगमुखफेनसिक्ता रजोलिप्ता गलितप्रस्वेदाः ॥

पिच्छिय परमहिलाओ घणथणमयणयणचंदवयणाइं[6] ।
ताडेइ णियं सीसं झूरइ हिययम्मि दीणमुहो ॥ ५७५ ॥

प्रेक्ष्य परमहिलाः घनस्तनमदनयनचन्द्रवदनानि ।
ताडयति निजं शीर्षं झूरयति (रुदति) हृदये दीनमुखः ॥

परसंपया णिएऊं पभणइ हा ! किं मया ण दिण्णाइं ।
दाणाइं पवरपत्ते उत्तमभत्तीय जुत्तेण ॥ ५७६ ॥

परसम्पदः दृष्ट्वा प्रभणति हा किं मया न दत्तानि ।
दानानि प्रवरपात्रे उत्तमभक्त्या युक्तेन ॥

एवं णाऊण फुडं लोहो उवसामिऊण णियचित्ते ।
णियवित्ताणुस्सारं दिज्जह दाणं सुपत्तेसु ॥ ५७७ ॥

एवं ज्ञात्वा स्फुटं लोभं उपशाम्य निजचित्ते ।
निजवित्तानुसारं देहि दानं सुपात्रेषु ॥

जं उप्पज्जइ दव्वं तं कायव्वं च बुद्धिवंतेणं ।
छहभायगयं सव्वं पढमो भावो हु धम्मस्स ॥ ५७८ ॥

---

१ देश्यशब्दोऽयं । २ धु. ख. । ३ तन्तुवायकर्म कुर्वन्ति । ३ फलकपल्यंक-कवाटादिकं निर्मापयन्ति । ५ सीयं च ख. । ६ ओ ख. । वदनाः । ७ हि. ख. । द. ख. ।

यद्दुत्पद्यते द्रव्यं तत्कर्तव्यं च बुद्धिमता ।
षड्भागगतं सर्वं प्रथमो भागो हि धर्मस्य ॥

बीओ भावो गेहे दायव्वो कुडुंबपोसणत्थेण ।
तइओ भावो भोए[1] चउत्थओ सयणवग्गम्मि ॥ ५७९ ॥

द्वितीयो भागो गृहे दातव्यः कुटुम्बपोषणार्थं ।
तृतीयो भागः भोगे चतुर्थः स्वजनवर्गे ॥

सेसा जे वे भावा ठायव्वा होंति ते वि पुरिसेण ।
पुज्जामहिमाकज्जे अहवा कालावकालस्स ॥ ५८०॥

शेषौ यौ द्वौ भागौ स्थापनीयौ भवतः तावपि पुरुषेण ।
पूजा[2]महिमकार्ये अथवा कालापकालाय ॥

अहवा णियं विढत्तं कस्स वि मा देहि होहि लोहिल्लो ।
सो को वि कुणउ वाऊ जह तं दव्वं समं जाइ ॥ ५८१ ॥

अथवा निजं वित्तं ? कस्यापि मा देहि भव लुब्धः ।
स कमपि कुरु उपायं यथा तद्द्रव्यं समं याति ॥

तं दव्वं जाइ समं जं खीणं पुज्जमहिमदाणेहिं ।
जं पुण धराणिहत्तं णट्ठं तं जाणि णियमेण ॥ ५८२ ॥

तद्द्रव्यं याति समं यत्क्षीणं पूजामहिमदानैः ।
यत्पुनः धरानिहितं नष्टं तज्जानीहि नियमेन ॥

सइं ठाणाओ भुल्लइ अहवा मूसेहि णिज्जए तं पि ।
अह भाओ अह पुत्तो चोरो तं लेइ अह राओ ॥ ५८३ ॥

स्वयं स्थानं विस्मरति अथवा मूषकैः नीयते तदपि ।
अथ भ्राता अथ पुत्रः चोरस्तत् गृह्णाति अथ राजा ॥

---

१ सभोए क. । २ पूजाद्यर्थमित्यर्थः ।

अहवा तरुणी महिला जायइ अण्णेण जारपुरिसेण ।
सह तं गिण्हिय दव्वं अण्णं देसंतरं दुट्ठा ॥ ५८४ ॥

अथवा तरुणी महिला याति अन्येन जारपुरुषेण ।
सह तद्गृहीत्वा द्रव्यं अन्यदेशान्तरं दुष्टा ॥

इय जाणिऊण णूणं देह सुपत्तेसु चउविहं दाणं ।
जह कयपावेण सया मुच्चह लिप्पह सुपुण्णेण ॥ ५८५ ॥

इति ज्ञात्वा नूनं देहि सुपात्रेषु चतुर्विधं दानं ।
यथा कृतपापेन सदा मुच्येत लिप्येत सुपुण्येन ॥

पुण्णेण कुलं विउलं कित्ती पुण्णेण भमइ तइलोए ।
पुण्णेण रूवमतुलं सोहग्गं जोवणं तेयं ॥ ५८६ ॥

पुण्यने कुलं विपुलं कीर्तिः पुण्येन भ्रमति त्रिलोके ।
पुण्येन रूपमतुलं सौभाग्यं यौवनं तेजः ॥

पुण्णबलेणुववज्जइ कहमवि पुरिसो य भोयभूमीसु ।
भुंजेइ तत्थ भोए दहकप्पतरुब्भवे दिव्वे ॥ ५८७ ॥

पुण्यबलेनोत्पद्यते कथमपि पुरुषश्च भोगभूमिषु ।
भुंक्ते तत्र भोगान् दशकल्पतरूद्भवान् दिव्यान् ॥

गिहतरुवर वरगेहे भोयणरुक्खा य भोयणे सरिसे ।
कणयमयभायणाणि य भायणरुक्खा पयच्छंति ॥ ५८८ ॥

गृहतरुवरा वरगृहानपि भोजनवृक्षाश्च भोजनानि सरसानि ।
कनकमयभाजनानि च भाजनवृक्षा प्रयच्छन्ति ॥

वत्थंगा वरवत्थे कुसुमंगा दिंति कुसुममालाओ ।
दिंति सुयंधविलेवण विलेवणंगा महारुक्खा ॥ ५८९ ॥

वस्त्राङ्गा वरवस्त्राणि कुसुमाङ्गा ददति कुसुममालाः ।
ददति सुगन्धविलेपनं विलेपनाङ्गा महावृक्षाः ॥

तूरंगा वरतूरे मज्जंगा दिंति सरसमज्जाइं ।
आहरणंगा दिंति य आहरणे कणयमणिजडिए ॥ ५९० ॥

तूर्याङ्गा वरतौर्याणि मद्याङ्गा ददति सरसमद्यानि ।
आभरणाङ्गा ददति च आभरणानि कनकमणिजटितानि ॥

रयणिदिणं ससिसूरा जह तह दीवंति जोइसारुक्खा ।
पायव दसप्पयारा चिंतियं दिंति मणुयाणं ॥ ५९१ ॥

रजनीदिनयोः शशिसूरा यथा तथा दीपन्ति ज्योतिर्वृक्षाः ।
पादपा दशप्रकाराः चिन्तितं ददति मनुष्येभ्यः ॥

जरसो य वाहिवेअणकासं सासं च जिंभणं छिक्का ।
एए अण्णे दोसा ण हवंति हु भोयभूमीसु ॥ ५९२ ॥

जरा च व्याधिवेदनाकासं श्वसनं जृम्भणं क्षुतं ।
एते अन्ये दोषा नं भवन्ति हि भोगभूमिषु ॥

सव्वे भोए दिव्वे भुंजित्ता आउसावसाणम्मि ।
सम्मादिट्ठीमणुया कप्पावासेसु जायंति ॥ ५९३ ॥

सर्वान् भोगान् दिव्यान् भुक्त्वा आयुरवसाने ।
सम्यग्दष्टिमनुजाः कल्पवासिषु जायन्ते ॥

जे पुणु मिच्छादिट्ठी विंतरभवणे सुजोइसा होंति ।
जम्हा मंदकसाया तम्हा देवेसु जायंति ॥ ५९४ ॥

ये पुनर्मिथ्यादष्टयः व्यन्तरभावनाः सुज्योतिष्का भवन्ति ।
यस्मान्मन्दकषाया तस्माद्देवेषु जायन्ते ॥

---

१ पानाङ्गाः ।

केई समसरणगया जोइसभवणे सुविंतरा देवा ।
गहिऊणं सम्मदंसण तत्थ चुया हुंति वरपुरिसा ॥ ५९५ ॥
केचित्समवशरणगता ज्योतिष्कभावनाः सुव्यन्तरा देवाः ।
गृहीत्वा सम्यग्दर्शनं ततश्च्युता भवन्ति वरपुरुषाः ॥
लहिऊण देससंजम सयलं वा होइ सुरोत्तमो सग्गे ।
मोत्तूण सुहे रम्मे पुणो वि अवयरइ मणुयत्ते ॥ ५९६ ॥
लब्ध्वा देशसंयमं सकलं वा भवति सुरोत्तमः स्वर्गे ।
भुक्त्वा शुभान् रम्यान् पुनरपि अवतराति मनुजत्वे ॥
तत्थ वि सुहाइं भुत्तं दिक्खा गहिऊण भविय णिग्गंथो ।
सुक्कज्झाणं पाविय कम्मं हणिऊण सिज्झेइ ॥ ५९७ ॥
तत्रापि शुभानि भुक्त्वा दीक्षां गृहीत्वा भूत्वा निर्ग्रन्थः ।
शुक्लध्यानं प्राप्य कर्म हत्वा सिद्ध्यति ॥
सिद्धं सरूवरूवं कम्मरहियं च होइ झाणेण ।
सिद्धावासी य णरो ण हवइ संसारिओ जीवो ॥ ५९८ ॥
सिद्धं स्वरूपरूपं कर्मरहितं च भवति ध्यानेन ।
सिद्धावासी च नरो न भवति संसारी जीवः ॥
पंचमयं गुणठाणं एयं कहियं मया समासेण ।
एत्तो उड्ढं वोच्छं पमत्तयविरयं तु छट्ठमयं ॥ ५९९ ॥
पंचमं गुणस्थानं एतत्कथितं मया समासेन ।
इत ऊर्ध्वं वक्ष्ये प्रमत्तविरतं तु षष्ठमकं ॥

इत्यविरतगुणस्थानं पंचमम् ।

---

१ केइ समवसरणया क. । २ लहिऊण. ख. । ३ होइ उत्तमे सग्गे. ख. । ४ स. क. ५ सिद्धसरूवं रूवं ख. ।

इत्थेव तिण्णि भावा खयउवसमाइं हौंति गुणठाणे ।
पणदह हुंति पमाया पमत्तविरओ हवे तम्हा ॥ ६०० ॥

अत्रैव त्रयो भावाः क्षयोपशमादयो भवन्ति गुणस्थाने ।
पंचदश भवन्ति प्रमादा प्रमत्तविरतो भवेत्तस्मात् ॥

[1]वत्तावत्तपमाए जो णिवसइ पमत्तसंजदो होइ ।
सयलगुणसीलकलिओ महव्वई चित्तलायरणो ॥ ६०१ ॥

व्यक्ताव्यक्तप्रमादे यो निवसति प्रमत्तसंयतो भवति ।
सकलगुणशीलकलितो महाव्रती चित्रलाचरणः ॥

वि[2]कहा तह य कसाया इंदिय णिद्दा तह य पणओ य ।
चउ चउ पणमेगेगे हुंति पमाया हु पण्णरसा ॥ ६०२ ॥

विकथास्तथा च कषाया इन्द्रियाणि निद्रा तथा च प्रणयश्च ।
चतस्रः चत्वारः पंच एका एकः भवन्ति प्रमादा हि पंचदश ॥

झायइ धम्मज्झाणं अट्टं पि य णोकसायउदयाओ ।
सज्झायभावणाए उवसामइ पुणु वि झाणम्मि ॥ ६०३ ॥

ध्यायति धर्म्यध्यानं आर्तमपि नोकषायोदयात् ।
स्वाध्यायभावनाभ्यां उपशाम्यति पुनरपि ध्याने ॥

तज्झाणजायकम्मं खवेइ आवासएहिं परिपुण्णो ।
णिंदणगरहणजुत्तो जुत्तो पडिकमणकिरियाहिं ॥ ६०४ ॥

तद्ध्यानजातकर्म क्षिपति आवश्यकैः परिपूर्णः ।
निन्दनगर्हणयुक्तो युक्तः प्रतिक्रमणाक्रियाभिः ॥

जा[3]व पमाए वट्टइ जा ण थिरं थाइ णिच्चलं झाणं ।
णिंदणगरहणजुत्तो आवासइ कुणइ ता भिक्खू ॥ ६०५ ॥

१–२ गाथाद्वयं गोम्मटसारेऽपि वर्तते । ३ जाम ख. ।

यावत्प्रमादे वर्तते यावन्न स्थिरं तिष्टति निश्चलं ध्यानं ।
निन्दनगर्हणयुक्तः आवश्यकानि करोति तावत् भिक्षुः ॥

छट्ठसए गुणठाणे वट्टंतो परिहरेइ छावासं ।
जो साहु सो ण मुणई परमायमसारसंदोहं ॥ ६०६ ॥

षष्ठमके गुणस्थाने वर्तमानः परिहरति षडावश्यकानि ।
यः साधुः स न जानाति परमागमसारसंदोहं ॥

अहव मुणंतो छंडइ सव्वावासाइं सुत्तवद्धाइं ।
तो तेण होइ चत्तो सुआयमो जिणवरिंदस्स ॥ ६०७ ॥

अथवा जानन् त्यजति सर्वावश्यकानि सूत्रवद्धानि ।
तर्हि तेन भवति त्यक्तः स्वागमो जिनवरेन्द्रस्य ॥

आयमचाए चत्तो परमप्पा होइ तेण पुरिसेण ।
परमप्पयचाएण य मिच्छत्तं पोसियं होइ ॥ ६०८ ॥

आगमत्यक्ते त्यक्तः परमात्मा भवति तेन पुरुषेण ।
परमात्मत्यागेन मिथ्यात्वं पोषितं भवति ॥

एवं णाऊण सया जाम ण पावेहि णिच्चलं झाणं ।
मणसंकप्पविमुक्कं तावासय कुणह वयसहियं ॥ ६०९ ॥

एवं ज्ञात्वा सदा यावन्न प्राप्नोति निश्चलं ध्यानं ।
मनःसंकल्पविमुक्तं तावदावश्यकं कुर्यात् व्रतसहितं ॥

आवासयाइं कम्मं विज्जावच्चं च दाणपूजाइं ।
जं कुणइ सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ॥ ६१० ॥

आवश्यकादि कर्म वैयावृत्त्यं च दानपूजादि ।
यत्करोति सम्यग्दृष्टिस्तत्सर्वं निर्जरानिमित्तं ॥

---

१ या ख. ।

जस्स ण णहगामित्तं पायविलेओ ण ओसहीलेवो ।
सो णावाइ समुद्दं तारेइ किमिच्छभणीएण ॥ ६११ ॥

यस्य न नभोगामित्वं पादविलेपो न औषधिलेपः ।
स नौरिव ? समुद्रं तारयति किमिच्छभणितेन ॥

जा संकप्पो चित्ते सुहासुहो भोयणाइकिरियाओ ।
ता कुणउ सो वि किरियं पडिकमणाई य णिस्सेसं ॥६१२॥

यावत्संकल्पश्चित्ते शुभाशुभः भोजनादिक्रियातः ।
तावत्करोतु तामपि क्रियां प्रतिक्रमणादिकां च निःशेषां ॥

एसो पमत्तविरओ साहु मए कहिउ समासेण ।
एत्तो उड्ढं वोच्छं अप्पमत्तो णिसामेह ॥ ६१३ ॥

एष प्रमत्तविरत्तः साधु मया कथितः समासेन ।
इत ऊर्ध्वं वक्ष्येऽप्रमत्तं निशाम्यत ॥

इति प्रमत्तगुणस्थानं षष्ठम् ।

णट्ठासेसपमाओ[2] वयगुणसीलेहिं मंडिओ णाणी ।
अणुवसमओ अखवओ झाणणिलीणो हु अप्पमत्तो सो।६१४।

नष्टाशेषप्रमादो व्रतगुणशीलैर्मंडितो ज्ञानी ।
अनुपशमकोऽक्षपको ध्याननिलीनो हि अप्रमत्तः सः ॥

पुव्वुत्ता जे भावा हवंति तिण्णेव तत्थ णायव्वा ।
मुक्खं धम्मज्झाणं हवेइ णियमेण इत्थेव ॥ ६१५ ॥

पूर्वोक्ता ये भावा भवन्ति त्रय एव तत्र ज्ञातव्याः ।
मुख्यं धर्म्यध्यानं भवेत् नियमेन अत्रैव ॥

१ वणसणायाइं क. नावइ ख. । २ प्राकृतपंचसंग्रहेऽपीयं गाथा वर्तते ।

झायारो पुण झाणं झेयं तह हवइ फलं च तस्सेव ।
एए चउअहियारा णायव्वा होंति णियमेण ॥ ६१६ ॥

ध्याता पुनर्ध्यानं ध्येयं तथा भवति फलं च तस्यैव ।
एते चतुरधिकारा ज्ञातव्या भवन्ति नियमेन ॥

आहारासणणिद्दा विजओ तह इंदियाण पंचण्हं ।
वावीसपरिसहाणं[1] कोहाईणं कसायाणं ॥ ६१७ ॥

आहारासननिद्राणां विजयस्तथा इन्द्रियाणां पंचानां ।
द्वाविंशतिपरीषहानां क्रोधादीनां कषायाणां ॥

णिस्संगो[2] णिम्मोहो णिग्गयवावारकरणसुत्तड्ढो ।
दिढकाओ थिरचित्तो एरिसओ होइ झायारो ॥ ६१८ ॥

निःसंगो निर्मोहो निर्गतव्यापारकरणसूत्राढ्यः ।
दृढकायः स्थिरचित्त एतादृशो भवति ध्याता ॥

ध्याता[3] ।

चित्तणिरोहे झाणं चउविहभेयं च तं मुणेयव्वं ।
पिंडत्थं च पयत्थं रूवत्थं रूववज्जियं चेव ॥ ६१९ ॥

चित्तनिरोधे ध्यानं चतुर्विधभेदं च तन्मन्तव्यं ।
पिण्डस्थं च पदस्थं रूपस्थं रूपवर्जितं चैव ॥

पिंडो वुच्चइ देहो तस्स मज्झट्ठिओ हु णियअप्पा ।
झाइज्जइ अइसुद्धो विप्फुरिओ सेयकिरणट्ठो ॥ ६२० ॥

पिण्ड उच्यते देहस्तस्य मध्यस्थितो हि निजात्मा ।
ध्यायते अतिशुद्धो विस्फुरितः सितकिरणस्थः ॥

---

१ परीसह ख. । २ इदं गाथासूत्रं क–पुस्तके नास्ति, प्रकरणानुसारित्वादवश्यभाव्यत्वादत्र ख–पुस्तकात्संयोजितं । ३ पाठोऽयं क–पुस्तके नास्ति ।

देहत्थो झाइज्जइ देहस्संबंधविरहिओ णिच्चं ।
णिम्मलतेय फुरंतो गयणयले सूरविंवेव ॥ ६२१ ॥

देहस्थो ध्यायते देहसम्बन्धविरहितो नित्यं ।
निर्मलतेजसा स्फुरन् गगनतले सूर्यविम्ब इव ॥

जीवपएसप्पचयं पुरिसायारं हि णिययदेहत्थं ।
अमलगुणं झायंतं झाणं पिंडत्थअहिहाणं ॥ ६२२ ॥

जीवप्रदेशप्रचयं पुरुषाकारं हि निजदेहस्थं ।
अमलगुणं ध्यायन् ध्यानं[1] पिण्डस्थाभिधानं ॥

पिंडस्थम्[2] ।

जारिसओ देहत्थो झाइज्जइ देहबाहिरे तह य ।
अप्पा सुद्धसहावो तं रूवत्थं फुडं झाणं ॥ ६२३ ॥

यादृशो देहस्थो ध्यायते देहवाह्ये तथा च ।
आत्मा शुद्धस्वभावस्तद्रूपस्थं स्फुटं ध्यानं ॥

रूवत्थं पुण दुविहं सगयं तह परगयं च णायव्वं ।
तं परगयं भणिज्जइ झाइज्जइ जत्थ पंचपरमेट्ठी ॥ ६२४ ॥

रूपस्थं पुनः द्विविधं स्वगतं तथा परगतं च ज्ञातव्यं ।
तत्परगतं भण्यते ध्यायते यत्र पंचपरमेष्ठी ॥

सगयं तं रूवत्थं झाइज्जइ जत्थ अप्पणो अप्पा ।
णियदेहस्स वहित्थो फुरंतरवितेयसंकासो ॥ ६२५ ॥

स्वगतं तु रूपस्थं ध्यायते यत्र आत्मना आत्मा ।
निजदेहाद्वहिस्थः स्फुरद्रवितेजःसंकाशः ॥

---

१ ध्यायतीति क्रियाध्याहारः । २ पाठोऽयं क-पुस्तके नास्ति ।

रूपस्थम् ।

देवच्चणाविहाणं जं कहियं देसविरयठाणम्मि ।
होइ पयत्थं झाणं कहियं तं वरजिणिंदेहि ॥ ६२६ ॥
देवार्चनाविधानं यत्कथितं देशविरतस्थाने ।
भवति पदस्थं ध्यानं कथितं तद्वरजिनेन्द्रैः ॥

एयपयमक्खरं वा जवियइ जं पंचगुरुवसंबंधं ।
तं पि य होइ पयत्थं झाणं कम्माण णिद्दहणं ॥ ६२७ ॥
एकपदमक्षरं वा जप्यते यत्पंचगुरुसम्बन्धं ।
तदपि च भवति पदस्थं ध्यानं कर्मणां निर्दहनं ॥

पदस्थम् ।

ण य चिंतइ देहत्थं देहवहित्थं ण चिंतए किं पि ।
ण सगयपरगयरूवं तं गयरूवं णिरालंवं ॥ ६२८ ॥
न च चिन्तयति देहस्थं देहवाह्यस्थं न चिन्तयेत्किमपि ।
न स्वगतपरगतरूपं तद्गतरूपं निरालम्वं ॥

जत्थ ण करणं चिंता अक्खररूवं ण धारणा धेयं ।
ण य वावारो कोई चित्तस्स य तं णिरालंवं ॥ ६२९ ॥
यत्र-न करणं चिन्ता अक्षररूपं न धारणा ध्येयं ।
न च व्यापारः कश्चिच्चित्तस्य च तन्निरालम्वं ॥

इंदियविसयवियारा जत्थ खयं जंति रायदोसं च ।
मणवावारा सव्वे तं गयरूवं मुणेयव्वं ॥ ६३० ॥

१–२ क–पुस्तके नास्ति ।

इन्द्रियविषयविकारा यत्र क्षयं यान्ति रागद्वेषौ च ।
मनोव्यापाराः सर्वे तद्गतरूपं मन्तव्यं ॥

गतरूपं, इति ध्यानम् ।

झेयं तिविहपयारं अक्खर-रूवं तह अरूवं च ।
रूवं परमेट्ठिगयं अक्खरयं तेसिमुच्चारं ॥ ६३१ ॥

ध्येयं त्रिविधप्रकारं अक्षर-रूपं तथाऽरूपं च ।
रूपं परमेष्ठिगतं अक्षरकं तेषामुच्चारणं ॥

गयरूवं जं झेयं जिणेहि भणियं पि तं णिरालंबं ।
सुण्णं पि तं ण सुण्णं जम्हा रयणत्तयाइण्णं ॥ ६३२ ॥

गतरूपं यद्ध्येयं जिनैर्भणितमपि तन्निरालंबं ।
शून्यमपि तन्न शून्यं यस्माद्रत्नत्रयाकीर्णं ॥

ध्येयम् ।

झाणस्स फलं तिविहं कहंति वरजोइणो विगयमोहा ।
इहभवपरलोयभवं सव्वंकम्मक्खए तइयं ॥ ६३३ ॥

ध्यानस्य फलं त्रिविधं कथयन्ति वरयोगिनो विगतमोहाः ।
इहभवपरलोकभवं सर्वकर्मक्षये तृतीयं ॥

झाणस्स य सत्तीए जायंति अईसयाणि विविहाणि ।
दूरालोयणपहुई झाणे आएसकरणं च ॥ ६३४ ॥

ध्यानस्य च शक्त्या जायन्ते अतिशयानि विविधानि ।
दूरालोकनप्रभृतीनि ध्याने आदेशकरणं च ॥

---

१ क-पुस्तके नास्ति । २ पुस्तकद्वयेऽपि नास्ति ।

मइसुइओहीणाणं मणपज्जय केवलं तहा णाणं ।
रिद्धीओ सव्वाओ जइपूया[1] इह फलं झाणे[2] ॥ ६३५॥

मतिश्रुतावधिज्ञानं मनःपर्ययः केवलं तथा ज्ञानं ।
ऋद्धयः सर्वा यतिपूजा इह फलं ध्याने ॥

सक्काईइंदत्तं अहमिंदत्तं च सग्गलोयम्मि ।
लोयंतियदेवत्तं तं परभवगयफलं झाणे ॥ ६३६ ॥

शक्रादीन्द्रत्वं अहमिन्द्रत्वं च स्वर्गलोके ।
लौकान्तिकदेवत्वं तत्परभवगतफलं ध्याने ॥

तणुपंचस्स य णासो सिद्धसरूवस्स चेव उप्पत्ती ।
तिहुयणपहुत्तलाहो लाहो य अणंतविरियस्स ॥ ६३७ ॥

तनुपंचानां नाशः सिद्धस्वरूपस्य चैवोत्पत्तिः ।
त्रिभुवनप्रभुत्वलाभो लाभश्चानन्तवीर्यस्य ॥

अट्ठगुणाणं लद्धी लोयसिहरग्गखित्तसंवासो ।
तइयफलं कहियमिणं जिणवरचंदेहि झाणस्स ॥ ६३८ ॥

अष्टगुणानां लब्धिः लोकशिखराग्रक्षेत्रसंवासः ।
तृतीयफलं कथितमिदं जिनवरचन्द्रैर्ध्यानस्य ॥

एवं धम्मज्झाणं कहियं अपमत्तगुण समासेण ।
सालंवमणालंवं तं मुक्खं इत्थ[3] णायव्वं ॥ ६३९ ॥

एवं धर्म्यध्यानं कथितं अप्रमत्तगुणे समासेन ।
सालम्बमनालंबं तन्मुख्यं अत्र ज्ञातव्यं ॥

---

१ जिण. ख. । २ "अस्टासोर्ङप्" इति त्रैविक्रमेण तृतीयास्थाने सप्तमी एवमन्यत्रापि । ३ तत्थ ख. ।

एदम्हि गुणट्ठाणे अत्थि[1] आवासयाण परीहारो।
झाणमणम्मि[2] थिरत्तं णिरंतरं अत्थि[3] तं जम्हा ॥ ६४० ॥
एतस्मिन् गुणस्थाने अस्ति आवश्यकानां परिहारः।
ध्यानमनसि स्थिरत्वं निरन्तरं अस्ति तद्यस्मात् ॥

सत्तमयं गुणठाणं कहियं अपमत्तणामसंजुत्तं।
एत्तो अपुव्वणामं वुच्छामि जहाणुपुव्वीए ॥ ६४१ ॥
सप्तमकं गुणस्थानं कथितं अप्रमत्तनामसंयुक्तं।
इतोऽपूर्वनाम वक्ष्यामि यथानुपूर्व्या ॥

इत्यप्रमत्तगुणस्थानं सप्तमम्।

तं दुब्भेयपउत्तं खवयं उवसामियं च णायव्वं।
खवए खवओ भावो उवसमए होइ उवसमओ ॥ ६४२ ॥
तद्द्विभेदप्रोक्तं क्षपकमुपशमकं च ज्ञातव्यं।
क्षपके क्षपको भाव उपशमके भवति उपशमकः ॥

खवएसु उवसमेसु य अउव्वणामेसु हवइ तिपयारं।
सुक्कज्झाणं णियमा पुहुत्तसवियक्कसवियारं[4] ॥ ६४३ ॥

---

१ अत्थि ण आवासयाण. क.। २ झाणम्मि अइथिरत्तं ख.। ३ णत्थि. क.।
४ अस्मादग्रेऽयं पाठः ख-पुस्तके। उक्तं च—

श्रुते चिन्ता वितर्कः स्याद्वीचारः संक्रमो मतः।
पृथक्त्वं स्यादनेकत्वं भवत्येतत्त्रयात्मकं ॥ १ ॥

तद्यथा—

द्रव्याद्द्रव्यान्तरं याति गुणाद्गुणान्तरं व्रजेत् ॥
पर्यायादन्यपर्यायं सपृथक्त्वं भवत्यतः ॥ २ ॥
सुशुद्धात्मानुभूत्यात्मा भावश्रुतावलम्बनात्।
अन्तर्जल्पो वितर्कः स्याद्यस्मिंस्तु सवितर्कजं ॥ ३ ॥
अर्थादर्थान्तरे शब्दाच्छब्दान्तरे च संक्रमः।
योगाद्योगान्तरे यत्र सवीचारं तदुच्यते ॥ ४ ॥

क्षपकेषु उपशमेषु चापूर्वनामसु भवति त्रिप्रकारं ।
शुक्लध्यानं नियमात् पृथक्त्वसवितर्कसविचारं ॥

पज्जायं च गुणं वा जम्हा दव्वाण मुणइ भेएण ।
तम्हा पुहुत्तणामं भणियं झाणं मुणिंदेहिं[1] ॥ ६४४ ॥

पर्यायं च गुणं वा यस्मात् द्रव्याणां जानाति भेदेन ।
तस्मात्पृथक्त्वनाम भणितं ध्यानं मुनीन्द्रैः ॥

भणियं सुयं वियक्कं वट्टइ सह तेण तं खु अणवरयं ।
तम्हा तस्स वियक्कं सवियारं पुण भणिस्सामो ॥ ६४५ ॥

भणितं श्रुतं वितर्कं वर्तते सह तेन तत्खलु अनवरतं ।
तस्मात्तस्य वितर्कं सवीचारं पुनर्भणिष्यामः ॥

जोएहिं तीहिं वियरइ अक्खरअत्थेसु तेण सवियारं ।
पढमं सुक्कज्झाणं अतिक्खपरसोवमं भणियं ॥ ६४६ ॥

योगैः त्रिभिः विचरति अक्षरार्थेषु तेन सविचारं ।
प्रथमं शुक्लध्यानं अतीक्ष्णपरशूपमं भणितं ॥

जह चिरकालो लग्गइ अतिक्खपरसेण रुक्खविच्छेए[2] ।
तह कम्माण य हणणे चिरकालो पढमसुक्कम्मि ॥६४७॥

यथा चिरकालो लगति अतीक्ष्णपरशुना वृक्षविच्छेदे ।
तथा कर्मणां च हनने चिरकालः प्रथमशुक्ले ॥

---

१ अस्मादग्रेऽयं पाठः ख–पुस्तके. । सहभाविनो गुणाः, क्रमभाविनो पर्यायाः, आत्मद्रव्ये ज्ञानदर्शनादयो गुणा नरनारकादयो भवपर्यायाः उक्तं च—

सहभूता गुणा ज्ञेयाः सुवर्णे पीतता यथा ।
क्रमभूतास्तु पर्याया जीवे गत्यादयो यथा ॥ १ ॥

२ पुस्तकद्वयेऽपि 'विच्छेओ' इति पाठः ।

खइएण[1] उवसमेण य कम्माणं जं अउव्वपरिणामो ।
तम्हा तं गुणठाणं अउव्वणामं तु तं भणियं[2] ॥ ६४८ ॥

क्षयेणोपशमेन च कर्मणां यदपूर्वपरिणामः ।
तस्मात्तद्गुणस्थानं अपूर्वनाम तु तद्भणितं ॥

इत्यपूर्वनामगुणस्थानमष्टमम् ।

जह तं अउव्वणामं अणियट्टी तह य होइ णायव्वं ।
उवसमखाइयभावं हवेइ[3] फुडु तम्हि ठाणम्मि ॥ ६४९ ॥

यथा तदपूर्वनाम अनिवृत्ति तथा च भवति ज्ञातव्यं ।
औपशमिकक्षायिकभावौ भवतः स्फुटं तस्मिन् गुणस्थाने ॥

सुक्कं तत्थ पउत्तं जिणेहिं पुव्वुत्तलक्खणं झाणं ।
णत्थि णियत्ती पुणरवि जम्हा अणियट्टि तं तम्हा ॥६५०॥

शुक्लं तत्र प्रोक्तं जिनैः पूर्वोक्तलक्षणं ध्यानं ।
नास्ति निवृत्तिः पुनरपि यस्मात् अनिवृत्ति तत्तस्मात् ॥

हुंति[4] अणियट्टिणो ते पडिसमयं जस्स[5] एक्कपरिणामं[6] ।
विमलयरझाणहुअवहसिहाहिं णिद्दड्ढकम्मवणा ॥६५१॥

भवन्ति अनिवर्तिनस्ते प्रतिसमयं येषां एकपरिणामः ।
विमलतरध्यानहुतवहशिखाभिः निर्दग्धकर्मवनाः ॥

इत्यनिवृत्तिगुणस्थानं नवमम् ।

---

१ खएणेति पुस्तकद्वये २ कहियं. ख. । ३ हवंति क । ४ गोम्मटसारेऽपीयं गाथा । ५ जम्मि ख. 'जस्सि' अन्यत्र । ६ मो ।

जह अणियट्टि पउत्तं खाइयउवसमियसेढिसंजुत्तं ।
तह सुहुमसंपरायं दुब्भेयं होइ जिणकहियं ॥ ६५२ ॥
यथाऽनिवृत्ति प्रोक्तं क्षायिकौपशमिकश्रेणिसंयुक्तं ।
तथा सूक्ष्मसाम्परायं द्विभेदं भवति जिनकथितं ॥

तत्थेव हि दो भावा झाणं पुणु तिविहभेय तं सुक्कं ।
लोहकसाए सेसे समलत्तं[1] होइ चित्तस्स ॥ ६५३ ॥
तत्रैव हि द्वौ भावौ ध्यानं पुनः त्रिविधभेदं तच्छुक्लं ।
लोभकषाये शेषे समलत्वं भवति चित्तस्य ॥

जह[2] कोसुंभयवत्थं होइ सया सुहुमरायसंजुत्तं ।
एवं सुहुमकसाओ सुहुमसराओत्ति णिद्दिट्ठो ॥ ६५४ ॥
यथा कौसुम्भं वस्त्रं भवति सदा सूक्ष्मरागसंयुक्तं ।
एवं सूक्ष्मकषायः सूक्ष्मसराग इति निर्दिष्टः ॥

इति सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानं दशमम् ।

जो उवसमइ कसाए मोहस्संबंधिपयडिवूहं च ।
उवसामओत्ति भणिओ खवओ णामं ण सो लहइ ॥६५५॥
य उपशाम्यति कषायान् मोहस्य सम्बन्धिप्रकृतिव्यूहं च ।
उपशामक इति भणितः क्षपकं नाम न लभते ॥

सुक्कज्झाणं पढमं भाओ पुण तत्थ उवसमो भणिओ ।
मोहोदयाउ कोई पडिऊण य जाइ मिच्छत्तं ॥ ६५६ ॥
शुक्लध्यानं प्रथमं भावः पुनः तत्रोपशमः भणितः ।
मोहोदयात् कश्चित् प्रतिपत्य च याति मिथ्यात्वं ॥

---

१ णिव्वत्तं ख. । २ प्राकृतपंचसंग्रहेऽपीयं गाथा । तत्र ' धुदकोसुंभयवत्थं, इति पाठः ।

कोई पमायरहियं ठाणं आसिज्ज पुण वि आरुहइ ।
चरमसरीरो जीवो खवयसेढीं च रयहणणे ॥ ६५७ ॥

कश्चित्प्रमादरहितं स्थानमाश्रित्य पुनरप्यारोहयति ।
चरमशरीरो जीवः क्षपकश्रेणिं च रजोहनने ॥

कालं काउं कोई तत्थ य उवसामगे गुणट्ठाणे ।
सुकज्झाणं झाइय[1] उववज्जइ सव्वसिद्धीए ॥ ६५८ ॥

कालं कृत्वा कश्चित्तत्रोपशमके गुणस्थाने ।
शुक्लध्यानं ध्यात्वोत्पद्यते सर्वार्थसिद्धौ ॥

हेट्ठट्ठिओ हु चेट्ठइ पंको सरपाणियम्मि जह सरई[2] ।
तह मोहो तम्मि गुणे हेउं लहिऊण उल्लेल्लइ[3] ॥ ६५९ ॥

अधःस्थितो हि चेष्टते पंकः सरःपानीये यथा शरदि ।
तथा मोहस्तस्मिन् गुणे हेतुं लब्ध्वा उद्गच्छति ॥

जो खवयसेढिरूढो ण होइ उवसामिओत्ति सो जीवो ।
मोहक्खयं कुणंतो उत्तो खवओ जिणिंदेहिं ॥ ६६० ॥

यः क्षपकश्रण्यारूढो न भवति उपशामक इति स जीवः ।
मोहक्षयं कुर्वन् उक्तः क्षपको जिनेन्द्रैः ॥

इत्युपशान्तगुणस्थानमेकादशम् ।

णिस्सेसमोहखीणे खीणकसायं तु णामगुणठाणं ।
पावइ जीवो णूणं खाइयभावेण संजुत्तो ॥ ६६१ ॥

निःशेषमोहक्षीणे क्षीणकषायं तु नाम गुणस्थानं ।
प्राप्नोति जीवो नूनं क्षायिकभावेन संयुक्तः ॥

---

१ झायइ क. ख. । २ ए. ख. । ३ समुल्लसइ ख. ।

जह सुद्धफलियभायणि खित्तं णीरं खु णिम्मलं सुद्धं ।
तह णिम्मलपरिणामो खीणकसाओ मुणेयव्वो ॥ ६६२ ॥

यथा शुद्धस्फटिकभाजने क्षिप्तं नीरं खलु निर्मलं शुद्धं ।
तथा निर्मलपरिणामः क्षीणकषायो मन्तव्यः ॥

सुक्कज्झाणं बीयं भणियं सवियक्कएक्कअवियारं ।
माणिक्कसिहाचवलं[1] अत्थि तहिं णत्थि संदेहो ॥ ६६३ ॥

शुक्लध्यानं द्वितीयं भणितं सवितर्कैकत्वाविचारं ।
माणिकशिखाचपलं अस्ति तत्र नास्ति सन्देहः ॥

होऊण खीणमोहो हणिऊण य मोहविडविवित्थारं ।
घाइत्तयं च घाइय दुचरिमसमएसु झाणेणं[2][3] ॥ ६६४ ॥

भूत्वा क्षीणमोहो हत्वा च मोहविटपिविस्तारं ।
घातित्रिकं च घातयित्वा द्विचरमसमयेषु ध्यानेन ॥

घाइचउक्कविणासे उप्पज्जइ सयलविमलकेवलयं ।
लोयालोयपयासं णाणं णिरुपद्दवं णिच्चं ॥ ६६५ ॥

---

१ माणिक्कसिहा अचलं ख. । २ झाणेसु. ख. । ३ अस्मादग्रे 'उक्तं च' पाठः ख-पुस्तके ।

अपृथक्त्वमवीचारं सवितर्कगुणान्वितं ।
सन्ध्यायत्येकयोगेन शुक्लध्यानं द्वितीयकं ॥ १ ॥

तद्यथा—

निजात्मद्रव्यमेकं वा पर्यायमथवा गुणं ।
निश्चलं चिन्त्यते यत्र तदेकत्वं विदुर्बुधाः ॥ २ ॥
तद्द्रव्यगुणपर्यायपरावर्तविवर्जितं ।
चिन्तनं तदवीचारं स्मृतं सद्ध्यानकोविदैः ॥ ३ ॥
निजशुद्धात्मनिष्ठत्वाद्भावश्रुतावलम्बनात् ।
चिंतनं क्रियते यत्र सवितर्कं तदुच्यते ॥ ४ ॥

घातिचतुष्कविनाशे उत्पद्यते सकलविमलकेवलकं।
लोकालोकप्रकाशं ज्ञानं निरुपद्रवं नित्यं ॥

आवरणाण विणासे दंसणणाणाणि अंतरहियाणि।
पावइ मोहविणासे अणंतसुक्खं च परमप्पा ॥ ६६६ ॥

आवरणयोः विनाशे दर्शनज्ञाने अन्तरहिते।
प्राप्नोति मोहविनाशे अनन्तसुखं च परमात्मा ॥

विग्घविणासे पावइ अंतररहियं च वीरियं परमं।
उच्चइ सजोइकेवलि तइयज्झाणेण सो तइया ॥ ६६७ ॥

विघ्नविनाशे प्राप्नोति अन्तरहितं च वीर्यं परमं।
उच्यते सयोगकेवली तृतीयध्यानेन स तत्र? ॥

इति क्षीणकषायगुणस्थानं द्वादशम्।

सुद्धो खाइयभावो अवियप्पो णिच्चलो जिणिंदस्स।
अत्थि तया तं झाणं सुहमकिरियाअपडिवाई ॥६६८॥

शुद्धः क्षायिको भावोऽविकल्पो निश्चलो जिनेन्द्रस्य।
अस्ति तत्र तद्ध्यानं सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ॥

परिफंदो अइसुहमो जीवपएसाण अत्थि तक्काले।
तेणाणू आइट्टा आसवि य पुणो वि विहडंति ॥ ६६९ ॥

परिस्पन्दोऽतिसूक्ष्मो जीवप्रदेशानामस्ति तत्काले।
तेन अणवः........आगत्य च पुनरपि विघटन्ते ॥

जं णत्थि रायदोसो तेण ण बंधो हु अत्थि केवलिणो।
जह सुक्ककुड्डलग्गा वालूया झडियंति[1] तह कम्मं ॥ ६७० ॥

---

1 झडइ. ख.।

यन्न स्तः रागद्वेषौ तेन न बन्धो हि अस्ति केवलिनः ।
यथा शुष्ककुड्यलग्ना वालुका निपतन्ति तथा कर्म ॥

ईहारहिया किरिया गुणा वि सव्वे वि खाइया तस्स ।
सुक्खं सहावजायं कमकरणविवज्जियं णाणं ॥ ६७१ ॥

ईहारहिता क्रिया गुणा अपि सर्वेऽपि क्षायिकास्तस्य ।
सुखं स्वभावजातं क्रमकरणविवर्जितं ज्ञानं ॥

णाणेण तेण जाणइ कालत्तयवट्टिए तिहुवणत्थे ।
भावे समे य विसमे सचेयणाचेयणे सव्वे ॥ ६७२ ॥

ज्ञानेन तेन जानाति कालत्रयवर्तमानान् त्रिभुवनार्थान् ।
भावान् समांश्च विषमान् सचेतनाचेतनान् सर्वान् ॥

एक्कं एक्कम्मि खणे अणंतपज्जायगुणसमाइण्णं ।
जाणइ[1] जह तह जाणइ सव्वइं दव्वाइं[2] समयम्मि ॥६७३॥

एकमेकस्मिन् क्षणे अनन्तपर्यायगुणसमाकीर्णं ।
जानाति यथा तथा जानाति सर्वाणि द्रव्याणि समये ॥

जाणंतो पिच्छंतो कालत्तयवट्टियाइं दव्वाइं ।
उत्तो सो सव्वण्हू परमप्पा परमजोईहिं ॥ ६७४ ॥

जानन् पश्यन् कालत्रयवर्तमानानि द्रव्याणि ।
उक्तः स सर्वज्ञः परमात्मा परमयोगिभिः ॥

तित्थयरत्तं पत्ता जे ते पावंति समवसरणाइं ।
सक्केण कयविहूई पंचक्कल्लाणपुज्जा य ॥ ६७५ ॥

तीर्थकरत्वं प्राप्ता ये ते प्राप्नुवन्ति समवशरणादिकं ।
शक्रेण कृतविभूतिं पंचकल्याणपूजां च ॥

---

१ जाणइ पसइ जह तह ख. । २ सव्वाइं. क. ।

सम्मुग्घाईकिरिया णाणं तह देसणं च सुक्खं च।
सव्वेसिं सामण्णं अरहंताणं[1] च इयराणं ॥ ६७६ ॥

समुद्घातक्रिया ज्ञानं तथा दर्शनं च सुखं च।
सर्वेषां समानं अर्हतां चेतरणां च ॥

जेसिं आउसमाणं णामं गोदं च वेयणीयं च।
ते अकयसमुग्घाया सेसा य कयंति समुग्घायं ॥ ६७७ ॥

येषां आयुः समानं नाम गोत्रं च वेदनीयं च।
ते अकृतसमुद्घाताः शेषाश्च कुर्वन्ति समुद्घातं ॥

अंतरमुहुत्तकालो हवइ जहण्णो वि उत्तमो तेसिं।
गयवरिसूणा कोडी पुव्वाणं हवइ णियमेण ॥ ६७८ ॥

अन्तर्मुहूर्तकालो भवति जघन्योऽपि उत्तमः तेषां।
गतवर्षोना कोटिः पूर्वाणां भवति नियमेन ॥

इति सयोगकेवलिगुणस्थानं त्रयोदशम्।

पच्छा अजोइकेवलि हवइ जिणो अघाइकम्म हणमाणो।
लहुपंचक्खरकालो हवइ फुडं तम्मि गुणठाणे ॥ ६७९ ॥

पश्चादयोगकेवली भवति जिनः अघातिकर्मणां हन्ता।
लघुपंचाक्षरकालो भवति स्फुटं तस्मिन् गुणस्थाने ॥

परमोरालियकायं सिढिलं होऊण गलइ तक्काले।
थक्कइ सुद्धसुहावो घणणिविडपएसपरमप्पा ॥ ६८० ॥

परमौदारिककायः शिथिलो भूत्वा गलति तत्काले।
तिष्ठति शुद्धस्वभावः घननिविडप्रदेशपरमात्मा ॥

---

१ अर्हच्छब्दोऽयं तीर्थंकरत्ववाची।

णट्ठाकिरियपवित्ती सुक्कज्झाणं च तत्थ णिद्दिट्ठं ।
खाइयभावो सुद्धो णिरंजणो वीयराओ य ॥ ६८१ ॥

नष्टक्रियाप्रवृत्तिः शुक्लध्यानं च तत्र निर्दिष्टं ।
क्षायिको भावः शुद्धो निरंजनो वीतरागश्च ॥

झाणं सजोइकेवलि जह तह अजोइस्स णत्थि परमत्थें ।
उवयारेण पउत्तं भूयत्थणयविवक्खाए ॥ ६८२ ॥

ध्यानं सयोगकेवलिनो यथा तथाऽयोगिनः नास्ति परमार्थेन ।
उपचारेण प्रोक्तं भूतार्थनयविवक्षया ॥

झाणं तह झायारो झेयवियप्पा य होंति मणसहिए ।
तं णत्थि केवलिदुगे तह्मा झाणं ण संभवइ ॥ ६८३ ॥

ध्यानं तथा ध्याता ध्येयविकल्पाश्च भवन्ति मनःसहिते ।
तन्नास्ति केवलिद्विके तस्माद्ध्यानं न संभवति ॥

मणसहियाणं झाणं मणो वि कम्मइयकायजोयाओ ।
तत्थ वियप्पो जायइ सुहासुहो कम्मउदएण ॥ ६८४ ॥

मनःसहितानां ध्यानं मनोऽपि कार्मणकाययोगात् ।
तत्र विकल्पो जायते शुभाशुभो कर्मोदयेन ॥

असुहे असुहं झाणं सुहझाणं होइ सुहपओगेण ।
सुद्धे सुद्धं कहियं सासवाणासवं दुविहं ॥ ६८५ ॥

अशुभेऽशुभं ध्यानं शुभध्यानं भवति शुभोपयोगेन ।
शुद्धे शुद्धं कथितं सास्रवानास्रवं द्विविधं ॥

पढमं वीयं तइयं सासवयं होइ इय जिणो भणइ ।
विगयासवं चउत्थं झाणं कहियं समासेण ॥ ६८६ ॥

प्रथमं द्वितीयं तृतीयं सास्रवं भवति एवं जिनो भणति ।
विगतास्रवं चतुर्थं ध्यानं कथितं समासेन ॥

णट्ठट्ठपयडिबंधो चरमसरीरेण होइ किंचूणो।
उड्ढं गमणसहावो समएणिक्केण पावेइ ॥ ६८७ ॥

नष्टाष्टप्रकृतिबन्धश्चरमशरीरेण भवति किंचूनः।
ऊर्ध्वं गमनस्वभावः समयेनैकेन प्राप्नोति ॥

लोयग्गसिहरखित्तं जावं तणुपवणउवरिमं भायं।
गच्छइ ताम अथक्को धम्मत्थित्तेण आयासो ॥ ६८८ ॥

लोकशिखरक्षेत्रं यावत्तनुपवनोपरिमं भागं।
गच्छति तावत् अस्ति धर्मास्तित्वेन आकाशः।

तत्तो परं ण गच्छइ अच्छइ कालं तु अंतपरिहीणं।
जह्मा अलोयखित्ते धम्मद्दव्वं ण तं अत्थि ॥ ६८९ ॥

ततः परं न गच्छति तिष्ठति कालं तु अन्तपरिहीनं।
यस्मात् अलोकक्षेत्रे धर्मद्रव्यं न तदस्ति ॥

जो जत्थ कम्ममुक्को जलथलआयासपव्वए णयरे।
सो रिजुगई पवण्णो माणुसखेत्ताउ उप्पयइ ॥ ६९० ॥

यो यत्र कर्ममुक्तो जलस्थलाकाशपर्वते नगरे।
स ऋजुगतिं प्रपन्नः मनुष्यक्षेत्रत उत्पद्यते।

पणयालसयसहस्सा माणुसखेत्तं तु होइ परिमाणं।
सिद्धाणं आवासो तित्तियमित्तम्मि आयासे ॥ ६९१ ॥

पंचचत्वारिंशच्छतसहस्रं मानुषक्षेत्रस्य तु भवति परिमाणं।
सिद्धानामावासः तावन्मात्रे आकाशे ॥

सव्वे उवरिं सिरसा विसमा हिट्ठम्मि णिच्चलपएसा।
अवगाहणा य जम्हा उक्कस्स जहण्णिया दिट्ठा ॥ ६९२ ॥

सर्वे उपरि सदृशाः विषमा अधस्तने निश्चलप्रदेशाः ।
अवगाहना च यस्मात् उत्कृष्टा जघन्यादिष्टा ॥

एगो वि अणंताणं सिद्धो सिद्धाण देइ अवगासं ।
जह्मा सुहमत्तगुणो अवगाहगुणो पुणो तेसिं ॥ ६९३ ॥

एकोऽपि अनन्तानां सिद्धः सिद्धानां ददात्यवकाशं ।
यस्मात्सूक्ष्मत्वगुणः अवगाहनगुणः पुनः तेषां ॥

सम्मत्तणाणदंसणवीरियसुहमं तहेव अवगहणं ।
अगुरुलहुमव्वाबाहं अट्ठगुणा होंति सिद्धाणं ॥ ६९४ ॥

सम्यक्त्वज्ञानदर्शनवीर्यसूक्ष्मं तथैवावगाहनं ।
अगुरुलघु अव्याबाधं अष्टगुणा भवन्ति सिद्धानां ॥

जाणइ पिच्छइ सयलं लोयालोयं च एक्कहेलाए ।
सुक्खं सहावजायं अणोवमं अंतपरिहीणं ॥ ६९५ ॥

जानाति पश्यति सकलं लोकालोकं च एकहेलया ।
सुखं स्वभावजातं अनुपमं अन्तपरिहीनं ॥

रविमेरुचंदसायरगयणाईयं तु णत्थि जह लोए ।
उवमाणं सिद्धाणं णत्थि तहा सुक्खसंघाए ॥ ६९६ ॥

रविमेरुचन्द्रसागरगगनादिकं तु नास्ति यथा लोके ।
उपमानं सिद्धानां नास्ति तथा सुखसंघाते ॥

चलणं वलणं[1] चिंता करणीयं किं पि णत्थि सिद्धाणं ।
जह्मा अइंदियत्तं कम्माभावे समुप्पण्णं ॥ ६९७ ॥

चलनं वलनं चिन्ता करणीयं किमपि नास्ति सिद्धानां ।
यस्मादतीन्द्रियत्वं कर्माभावेन समुत्पन्नं ॥

णट्ठट्ठकम्मबंधणजाइजरामरणविप्पमुक्काणं ।
अट्ठवरिट्ठगुणाणं णमो णमो सव्वसिद्धाणं ॥ ६९८ ॥

---

१ वयणं ख. । वचनं ।

नष्टाष्टकर्मबन्धनजातिजरामरणविप्रमुक्तेभ्यः ।
अष्टवरिष्टगुणेभ्यो नमो नमः सर्वसिद्धेभ्यः ॥

जिणवरसासणमतुलं जयउ चिरं सूरिसपरउवयारी ।
पाढय साहू वि तहा जयंतु भव्वा वि भुवणयले ॥६९९॥

जिनवरशासनमतुलं जयतु चिरं सूरिः स्वपरोपकारी ।
पाठकः साधुरपि तथा जयन्तु भव्या अपि भुवनतले ॥

जो पढइ सुणइ अक्खइ अण्णोसिं भावसंगहं सुत्तं ।
सो हणइ णियकम्मं कमेण सिद्धालयं जाइ ॥ ७०० ॥

यः पठति शृणोति कथयति अन्येषां भावसंग्रहं सूत्रं ।
स हन्ति निजकर्म क्रमेण सिद्धालयं याति ॥

सिरिविमलसेणगणहरसिस्सो णामेण देवसेणोत्ति ।
अबुहजणबोहणत्थं तेणेयं विरइयं सुत्तं ॥ ॥ ७०१

श्रीविमलसेनगणधरशिष्यो नाम्ना देवसेन इति ।
अबुधजनबोधनार्थं तेनेदं विरचितं सूत्रं ॥

इत्ययोगकेवलिगुणस्थानं चतुर्दशम् ।

इति भावसंग्रहशास्त्रं समाप्तम् ।

श्रीमद्वामदेवपण्डितविरचितो

भावसंग्रहः ।

श्रीमद्वीरं जिनाधीशं मुक्तीशं त्रिदशार्चितम् ।
नत्वा भव्यप्रबोधाय वक्ष्येऽहं भावसंग्रहम् ॥ १ ॥
भावा जीवपरीणामा जीवा भेदद्वयाश्रिताः ।
मुक्ताः संसारिणस्तत्र मुक्ताः सिद्धा निरत्ययाः ॥ २ ॥
कर्माष्टकविनिर्मुक्ता गुणाष्टकविराजिताः ।
लोकाग्रवासिनो नित्या ध्रौव्योत्पत्तिव्ययान्विताः ॥ ३ ॥
ये च संसारिणो जीवाश्चतुर्गतिषु संततम् ।
शुभाशुभपरीणामैर्भ्रमन्ति कर्मपाकतः ॥ ४ ॥
शुभभावाश्रयात्पुण्यं पापं त्वशुभभावतः ।
ज्ञात्वैवं सुमते ! तद्धि यच्छ्रेयस्तं समाश्रय ॥ ५ ॥
भावास्ते पंचधा प्रोक्ताः शुभाशुभगतिप्रदाः ।
संसारवर्तिजीवानां जिनेन्द्रैर्ध्वस्तकल्मषैः ॥ ६ ॥
आद्यो ह्यौपशमो भावः क्षायिको मिश्रसंज्ञकः ।
भावोऽस्त्यौदयिकस्तुर्यः पंचमः पारिणामिकः ॥ ७ ॥
स्यात्कर्मोपशमे पूर्वः क्षायिकः कर्मणां क्षये ।
क्षायोपशमिको भावः क्षयोपशमसंभवः ॥ ८ ॥

कर्मोदयाद्भवो भावो जीवस्यौदयिकस्तु यः ।
स्वभावः परिणामः स्यात्तद्भवः पारिणामिकः ॥ ९ ॥
द्वौ नवाष्टादशैकाग्रविंशतिश्च त्रयस्तथा ।
इत्यौपशमिकादीनां भावानां भेदसंग्रहः ॥ १० ॥
स्यादुपशमसम्यक्त्वं चारित्रं च तथाविधम् ।
इत्यौपशमिको भावो भेदद्वयमुपागतः ॥ ११ ॥
सम्यक्त्वं दर्शनं ज्ञानं वृत्तं दानादिपंचकम् ।
स्वस्वकर्मक्षयोद्भूतं नवैते क्षायिके भिदः ॥ १२ ॥

द्विकलं——

दर्शनत्रयमाद्यं च ज्ञानचतुष्कमादिमम् ।
क्षयोपशमसम्यक्त्वं त्र्यज्ञानं दानपंचकम् ॥ १३ ॥
रागोपयुक्तचारित्रं संयमासंयमस्त्विति ।
अष्टादश प्रभेदाः स्युः क्षायोपशमिकेऽञ्जसा ॥ १४ ॥
चतस्रो गतयो वामं त्रयो वेदास्त्वसंयमः ।
लेश्यापट्कमसिद्धत्वं चत्वारश्च कषायकाः ॥ १५ ॥
अज्ञानत्वेन संयुक्ताः प्रभेदा एकविंशतिः ।
औदयिकस्य भावस्य निर्दिष्टा भाववेदिभिः ॥ १६ ॥
अभव्यत्वं च भव्यत्वं जीवत्वं च त्रयः स्मृताः ।
पारिणामिकभावस्य भेदा गणधरैः स्फुटम् ॥ १७ ॥
मिथ्यादित्रिषु मिश्रौद्यास्त्रयो ह्यसंयतादिषु ।
चतुर्षु चोपशांतेषु चतुर्षु निखिलाः पृथक् ॥ १८ ॥

१ औपशमिकं । २ सरागसंयमं । ३ मिथ्यादर्शनं । ४ मिश्रौदयिकपारिणामिकाः ।

आद्यं विना चतुर्भावाः क्षपकश्रेणिसंभवाः।
विनौपशमिकं मिश्रं त्रयः स्युर्योग्ययोगिनोः॥ १९॥
सिद्धे द्वावेव जायेते क्षायिकः पारिणामिकः।
गुणस्थानान्यतो वक्ष्ये तत्तल्लक्षणलक्षितम्॥ २०॥
मिथ्या सासादनं नाम मिश्रमसंयताह्वयम्।
विरताविरताख्यं स्यात् प्रमत्तं चाप्रमत्तकम्॥ २१॥
अपूर्वकरणाभिख्यं ततोऽनिवृत्तिसंज्ञकम्।
सूक्ष्मलोभात्मकं तस्मादुपशान्तकषायकम्॥ २२॥
क्षीणमोहं सयोगाख्यमयोगिस्थानमन्तिमम्।
एतानि गुणस्थानानि प्रभवन्ति चतुर्दश॥ २३॥
एतैस्त्यक्ताः प्रजायन्ते सिद्धा लोकोत्तमोत्तमाः।
स्वशुद्धात्मसुखानन्दरसास्वादनतत्पराः॥ २४॥
तत्राद्यं यद्गुणस्थानं मिथ्यात्वं नाम जायते।
पंचानां[1] दृष्टिमोहाख्य[2]कर्मणामुदयोद्भवम्॥ २५॥
तत्रास्त्यौदयिको भावो मिथ्याकर्मोदयोद्भवः।
मुख्यतस्तद्वशाज्जन्तोर्वैपरीत्यं प्रजायते॥ २६॥
अदेवे देवताबुद्धिरतत्वे तत्वनिश्चयः।
मिथ्यात्वाविलचित्तस्य जीवस्य जायते तथा॥ २७॥
मधुरं जायते तीक्ष्णं तीक्ष्णं तु मधुरायते।
पित्तज्वरार्त्तजीवस्य वैपरीत्यं यथाखिलम्॥ २८॥

१ सप्तानां ख.। २ मिथ्यात्वमनन्तानुबन्धिचतुष्कं चेति पंचानां दृष्टिमोहसंज्ञा मिश्रसम्यक्त्वकर्मानुमेलने च सप्तानामपि। तदुक्तं--

एकधा त्रिविधा वा स्यात्कर्म मिथ्यात्वसंज्ञकम्।
क्रोधाद्याद्यचतुष्कं च सप्तैते दृष्टिमोहनम्॥

मद्यमोहाद्यथा जीवो न जानात्यहितं हितम् ।
धर्माधर्मौ न जानाति मिथ्यावासनया तथा ॥ २९ ॥
मिथ्यादृष्टेर्न[1] रोचेत जैनं[2] वाक्यं निवेदितम् ।
उपदिष्टानुपदिष्टमतत्वं रोचते स्वयम् ॥ ३० ॥
तन्मिथ्यात्वं जिनैः प्रोक्तं पंचधैकान्तवादतः ।
अतोऽहं क्रमशो वच्मि तत्तद्वादविकल्पनम् ॥ ३१ ॥
वेदान्तं क्षणिकत्वं च शून्यत्वं विनयात्मकम् ।
अज्ञानं चेति मिथ्यात्वं पंचधा वर्तते भुवि ॥ ३२ ॥
वेदवादी वदत्येवं विपरीतं तु मूढधीः ।
जलस्नानाद्भवेच्छुद्धिः पितॄणां मांसतर्पणम् ॥ ३३ ॥
गोयोनिस्पर्शनाद्धर्मः स्वर्गाप्तिर्जीवघातनात् ।
इत्यादिदुर्घटोत्कटथं वेदवादिमते मतम् ॥ ३४ ॥
यद्यम्बुस्नानतो[4] देही कृतपापाद्धि मुच्यते ।
तदा याति दिवं सर्वे जीवास्तोयसमुद्भवाः ॥ ३५ ॥
यदर्जितं पुरा पापं जीवैर्योगत्रयाश्रयात् ।
कथं तेऽत्र विमुंचन्ति तीर्थतोयावगाहनात् ॥ ३६ ॥
उक्तं च गीतायां:[5]—

अरण्ये निर्जले क्षेत्रे अशुचिब्राह्मणा मृतः ।
वेदवेदांगतत्वज्ञः कां गतिं स गमिष्यति ॥ १ ॥
यद्यसौ नरकं याति वेदाः सर्वे निरर्थकाः ।
यदि चेत्स्वर्गमाप्नोति[6] जलशौचं निरर्थकं ॥ २ ॥

— १ अत्र हि न चतुर्थी यदा रोचेत तदा चतुर्थी यदा तु न रोचेत तदा तु पञ्चम्येव । २ जैनवाक्यं. ख. । ३ नां ख. । ४ अत्र हि यमुद्देशं वेदवादी स्वीकृत्य जीवशुद्धिं मन्यते तस्याः सोद्देशायाः निषेधः क्रियते न तु संहितादौ विहितस्य लौकिकस्य गृहस्थस्नानस्य । ५ अस्याग्रे "श्लोकौ" इति. ख.—पाठः । ६ अथ स्वर्गमवाप्नोति ख ।

इन्द्रियविषयासक्ताः कषायै रंजिताशयाः ।
न तेषां स्नानतः शुद्धिर्गृहव्यापारवर्तिनाम् ॥ ३७ ॥
तीर्थाम्बुस्नानतः शुद्धिं ये मन्यन्ते जडाशयाः ।
परिभ्रमन्ति संसारे नानायोनिसमाकुले ॥ ३८ ॥
तपसा जायते शुद्धिर्जीवस्येन्द्रियनिग्रहात् ।
सम्यक्त्वज्ञानयुक्तस्य वन्हिना कनकं यथा ॥ ३९ ॥

द्विकलम्[1]—

व्रतशीलदयाधर्मगुप्तित्रयमहीयसाम् ।
सद्ब्रह्मचर्यनिष्ठानां स्वात्मैकाग्रचेतसाम् ॥ ४० ॥
स्वभावाशुचिदेहस्य संभवेऽपि प्रजायते ।
विशुद्धत्वं यतीशानां जलस्नानं विना सदा ॥ ४१ ॥

उक्तं च गीतायां—

अत्यन्तमलिनो देहो देही चात्यन्तनिर्मलः ।
उभयोरन्तरं दृष्ट्वा कस्य शौचं विधीयते ॥ १ ॥

आत्मा नदी संयमतोयपूर्णा सत्यावहा शीलतटा दयोर्मिः ।
तत्राभिषेकं कुरु पांडुपुत्र ! न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा ॥२ ॥

तस्माच्छुद्धि प्रपद्यन्ते जिनोद्दिष्टाध्वकोविदाः ।
भव्याः स्वात्मसुखानन्दस्यन्दतोयावगाहनात् ॥ ४२ ॥

तीर्थस्नानदूषणम् ।

मांसेन पितृवर्गस्य प्रीणनं यैर्विधीयते ।
भक्षितं तैर्निजं गोत्रमीदृशीश्रुतिकोविदैः ॥ ४३ ॥

---

१ अस्याग्रे ' श्लोकौ ' इति—ख—पाठः ।

स्वकर्मफलपाकेन गोत्रजाः पशुतां गताः ।
श्राद्धार्थं घातनात्तेषां किन्न स्यात्तत्पलादनम् ॥ ४४ ॥
कथंचित्पशुतां प्राप्तः पिता[1] स्वकर्मपाकतः ।
हत्वा तमेव तन्मांसं तत्तृप्त्यैर्भक्षितं भवेत् ॥ ४५ ॥
वकनामा द्विजस्तस्य पिता मृत्वा मृगोऽभवत् ।
त[2]च्छ्राद्धे त[3]त्पलं दत्त्वा द्विजेभ्यस्तेन भक्षितम् ॥ ४६ ॥
श्रुत्वाप्येवं पुराणोक्तं सुप्रसिद्धं कथानकम् ।
तथाप्यज्ञाः प्रकुर्वन्ति पितॄणां[4] मांसतर्पणम् ॥ ४७ ॥
मांसाशिनो न पात्रं स्युर्मांसदानं न चोत्तमम् ।
तत्पितृभ्यः कथं तृप्त्यै भुक्त मांसाशिभिर्भवेत् ॥ ५८ ॥
भुक्तेऽन्यैस्तृप्तिरन्येषां भवत्यस्मिन् कथंचन ।
तत्तत्स्वर्गं[5] गता जीवास्तृप्तिं गच्छन्ति निश्चितम् ॥ ४९ ॥
पुत्रेणार्पितदानेन पितरः स्वर्गमवाप्नुयुः ।
तर्हि तत्कृतपापेन तेऽपि गच्छन्ति दुर्गतिम् ॥ ५० ॥
अन्यस्य पुण्यपापाभ्यां भुनक्त्यन्यः शुभाशुभम् ।
ईदृशं विपरीतं तन्न क्वापि श्रूयते भुवि ॥ ५१ ॥
मृत्वा जीवोऽथ गृह्णाति देहमन्यं हि तत्क्षणे ।
पितृत्वं कस्य जायेत वृथैवं जल्पनं ततः ॥ ५२ ॥
स्वकृतपुण्यपापाभ्यां प्राप्तिः स्यात्सुखदुःखयोः ।
तस्माद्भव्याः कुरुध्वं तद्यस्माच्छ्रेयो भवेत्सदा ॥ ५३ ॥
अथैके प्रवदन्त्येवं भूतोयाग्निनगादिषु ।
भूतग्रामेषु सर्वेषु विष्णुर्वसति सर्वगः ॥ ५४ ॥

१ पिताऽथ कर्म पाकतः ख. । २ पितुः । ३ पितृचरमृगस्य ४ पितृणो क. । ५ तद्वत्स्वर्गं क. ।

उक्तं च पुराणे—

जले विष्णुः स्थले विष्णुर्विष्णुः पर्वतमस्तके ।
ज्वालमालाकुले विष्णुः सर्वं विष्णुमयं जगत् ॥ १ ॥

वसेत्सर्वाङ्गिदेहेषु विष्णुः सर्वगतो यदि ।
वृक्षादिघातनात्सोऽपि हन्यमानो न किं भवेत् ॥ ५५ ॥
मत्स्यकूर्मवराहाद्या विष्णोर्गर्भाश्रया दश ।
मत्स्यादिशैलविम्बानां पूजनं क्रियते ततः ॥ ५६ ॥
तस्मान्मत्स्यादिजीवानां चैतन्यसंयुजां जनैः ।
प्राणाभिघातनं[1] तेषां श्राद्धादौ क्रियते कथम् ॥ ५७ ॥
सर्वेष्वङ्गप्रदेशेषु प्रत्येकं देहधारिणाम् ।
ब्रह्माद्या देवताः सन्ति वेदार्थोऽयं सनातनः ॥ ५८ ॥

उक्तं च पुराणे[2]—

नाभिस्थाने वसेद्ब्रह्मा विष्णुः कण्ठे समाश्रितः ।
तालुमध्यस्थितो रुद्रो ललाटे च महेश्वरः ॥ १ ॥
नासाग्रे तु शिवं विद्यात्तस्यांते च परापरं ।
परात्परतरं नास्ति शास्त्रस्यायं विनिश्चयः ॥ २ ॥

यज्ञादावामिषं तेषां भुक्तं छागादिदेहिनाम् ।
यदि स्वर्गाय जायेत नरकं केन गम्यते ॥ ५९ ॥
तदङ्गे चेन्न विद्यन्ते तच्छास्त्रं स्यान्निरर्थकम् ।
सन्ति ते चेत्कथं हन्या निघृणैर्यज्ञकर्मणि ॥ ६० ॥

[3]इति मांसेन पितृवर्गतृप्तिदूषणम् ।

---

१ दिघा. ख. । २ अस्याग्रे 'श्लोकौ.' ख–पाठः । ३ इति ख—पुस्तके नास्ति ।

अन्ये चैवं वदन्त्येके यज्ञार्थं यो निहन्यते ।
तस्य मांसाशिनः सोऽपि सर्वे यान्ति सुरालयम् ॥ ६१ ॥
तत्किं न क्रियते यज्ञः शास्त्रज्ञैस्तस्य निश्चयात् ।
पुत्रवध्वादिभिः सर्वे प्रगच्छन्ति दिवं यथा ॥ ६२ ॥
एवं विरुद्धमन्योन्यं मत्वा वास्तवमञ्जसा ।
प्रतार्यतेऽन्धवन्मांसविवेकविकलाशयैः ॥ ६३ ॥
प्राणिप्राणात्यये शक्ताः अशक्ता मांसभक्षणे ।
क्रिया कौतस्कुती तेषां प्राप्तये स्वर्गमोक्षयोः ॥ ६४ ॥

उक्तं च पुराणे—

तिलसर्षपमात्रं तु मांसं भक्षन्ति ये द्विजाः ।
नरकान्न निवर्तन्ते यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥ १ ॥
आकाशगामिनो विप्राः पतिता मांसभक्षणात् ।
विप्राणां पतनं दृष्ट्वा तस्मान्मांसं न भक्षयेत् ॥ २ ॥

कश्चिदाहेति यत्सर्वं धान्यपुष्पफलादिकं ।
मांसात्मकं न तत्किंस्याज्जीवाङ्गत्वप्रसंगतः ॥ ६५ ॥
नैवं स्यान्मांसमंग्यङ्गं जीवाङ्गं स्यान्न वामिषम् ।
यथा निम्बो भवेद्वृक्षो वृक्षो निम्बो भवेन्न वा ॥ ६६ ॥
इति हेतोर्न वक्तव्यं सादृश्यं मांसधान्ययोः ।
मांसं निन्द्यं न धान्यं स्यात्प्रसिद्धेयं श्रुतिर्जने ॥ ६७ ॥

उक्तं च—

आगोपालादि यत्सिद्धं मांसं धान्यं पृथक् पृथक् ।
धान्यमानय इत्युक्ते न कश्चिन्मांसमानयेत् ॥ १ ॥

---

१ ख-पुस्तकेऽयं तृतीयान्तः तदा पुत्रवध्वादिभिः सह योजनीयः । २ च ख. ।

इत्याद्यनेकधा शास्त्रं यत्कृतं दुष्टचेतसैः ।
तदंगीकृत्य जायंते जना दुर्गतिभाजनम् ॥ ६८ ॥
तत्तावत्प्राणिघातेन साधितं मांसभक्षणात् ।
पापं सम्पद्यते यस्माद्दुःखं श्वाभ्रं तदुच्यते ॥ ६९ ॥
खरशूकरमार्जारश्वानवानरगोमुखाः ।
वृत्तास्तिस्राश्चतुष्कोणा दुःस्पर्शा वज्रसन्निभाः ॥ ७० ॥
घंटाकारा अधोवक्त्रा दुर्गन्धास्तमसावृताः ।
श्वभ्रेषु पापजीवानामुत्पत्यै सन्ति योनयः ॥ ७१ ॥
तीव्रमिथ्यात्वसंयुक्ताः प्राणिघातनतत्पराः ।
क्रूरा दुश्चेष्टिता जीवा उत्पद्यन्तेऽत्र योनिषु ॥ ७२ ॥
अन्तर्मुहूर्तकालेन पर्याप्तीः समवाप्य षट् ।
ततः पतन्ति शस्त्राग्रे स्वयमेवोत्पतन्ति च ॥ ७३ ॥
असुरा आतृतीयान्तं योधयन्ति परस्परम् ।
प्रयुध्यन्ते स्वयं तेऽपि[1] ज्ञात्वा वैरं पुरातनम् ॥ ७४ ॥
यज्ञादौ निहता पूर्वं छागाद्या मुष्टिघाततः ।
स्मृत्वा तत् प्राक्तनं वैरं भवन्ति हननोद्यताः ॥ ७५ ॥
कुन्तक्रकचशूलाद्यैर्नानाशस्त्रैस्तनूद्भवैः ।
खंडं खंडं विधायैवं प्रपीडयन्त्यहर्निशम् ॥ ७६ ॥
सूतकस्येव[2] संघातस्तद्देहेषु प्रजायते ।
यावदायुःस्थितिस्तेषां न तावन्मरणं भवेत् ॥ ७७ ॥
तप्तायःपिण्डमादाय संप्रदर्श्यामिषोपमम् ।
निक्षिपन्ति मुखे तेषां विहितामिषभोजिनाम् ॥ ७८ ॥

१ च. ख. । २ पारदस्येव ।

शारीरं मानसं दुःखमन्योन्योदीरितं च यत् ।
सहन्ते नारका नित्यं पूर्वपापविपाकतः ॥ ७९ ॥
लेश्यास्तिस्रोऽशुभास्तेषां संस्थानं हुंडसंज्ञकम् ।
अतिक्लिष्टाः परीणामा लिंगं नपुंसकाह्वयम् ॥ ८० ॥
क्षारोष्णतीव्रसद्भावनदीवैतरणीजलात् ।
दुर्गन्धमृन्मयाहाराद्भुंजते दुःखमद्भुतम् ॥ ८१ ॥
अक्ष्णोर्निर्मीलनं यावन्नास्ति सौख्यं च तावता ।
नरके पच्यमानानां नारकाणामहर्निशम् ॥ ८२ ॥
तस्मान्निर्गत्य कष्टेन पशुतां यान्ति ते जनाः ।
तत्र दुःखमसह्यं च जननीगर्भगह्वरे ॥ ८३ ॥
गर्भाद्विनिसृतानां स्यात् कियत्कालावशेषतः ।
यज्ञादौ विहितं कर्म तत्तथैवोपतिष्ठति ॥ ८४ ॥
एवं भ्रमन्ति संसारे स्मृतिं लब्ध्वा पुनः पुनः ।
ज्ञात्वैवं क्रियतां भव्यैः प्राणिनां प्राणरक्षणम् ॥ ८५ ॥

यज्ञे पशुवधकृतेन स्वर्गप्राप्तिदूषणम् ।

गोयोनिर्वंद्यते नित्यं न चास्यं मलिनं यतः ।
पश्य लोकस्य मूर्खत्वं वर्तते हेतुवर्जितम् ॥ ८६ ॥
तिरश्ची गौस्तृणाहारी नित्यं विण्मूत्रलालसा ।
तस्या अपरभागस्य कथं देवत्वमागतम् ॥ ८७ ॥
ईदृग्विधापि वन्द्या सा रज्ज्वा किं बन्ध्यते दृढम् ।
दुग्धार्थं पीड्यते दण्डैराक्रन्दन्ती स्वभाषया ॥ ८८ ॥
तस्याङ्गे[1] देवताः सर्वे तिष्ठन्ति सागरा नगाः ।
कथं गौर्यज्ञवेलायां वध्यते सा द्विजाधमैः ॥ ८९ ॥

---

१ तदङ्गे ख. ।

यथा गौः[1] प्रभवेद्वन्ध्या तथैते शूकरादयः ।
तयोः सादृश्यसद्भावे विण्मूत्राहारसेवनात् ॥ ९० ॥
एतत्स्ववाग्विरुद्धं यन्मन्यन्ते जडबुद्धयः ।
आयत्यां दुर्गतौ जन्म प्रपद्यन्ते सुनिश्चितम् ॥ ९१ ॥
न वन्ध्या गौर्भवेद्वन्ध्या गौर्वाणीत्यभिधानतः ।
जैनेन्द्री विमला तथ्या भव्यानां मुक्तिदायिनी ॥ ९२ ॥

इति गोयोनिवंदनादूषणम् ।

विरंचिर्जगतः कर्ता संहर्ता गिरिजापतिः ।
रक्षकः पुण्डरीकाक्ष[2] इत्यूचुः[3] श्रुतवेदिनः[4] ॥ ९३ ॥
यदि ब्रह्मा जगत्कर्ता तत्किं शक्रस्य संसदि ।
विलोक्याप्सरसां वृन्दं जातो भोगाभिलाषुकः ॥ ९४ ॥
ततोऽसौ स्वास्पदं त्यक्त्वा कर्तुं लग्नस्तपो भुवि ।
तावद्भीत्या कृतं देवैस्तत्तपोविघ्नकारणम् ॥ ९५ ॥
दृष्ट्वा तिलोत्तमानृत्यं तत्राभूद्विषयातुरः ।
गत्वा तदन्तिकं गाढमाश्लेषं याचते हि सः ॥ ९६ ॥
अनिच्छन्तीं तिरोभूतां तां गवेषयतोऽभवत् ।
तस्मिन्मुखानि चत्वारि पंचमं च खराननम् ॥ ९७ ॥
हास्यास्पदीकृतो देवैस्ततः क्रुद्धोतिनिर्भरम् ।
खरास्येन भ्रमन्तोऽसौ भक्षणार्थं मरुद्गणान् ॥ ९८ ॥
दृष्ट्वा तान् क्षुभितान् सर्वाश्छिन्नं रुद्रेण तच्छिरः ।
अत्यजन्[5] विषयासक्तिं प्रविष्टो वनराजकम्[6] ॥ ९९ ॥
तिलोत्तमेति विभ्रान्त्या सेविता वच्छभल्लिका ।

---

१ गौरत्र भवेद्वं. ख. । २ काख्यः ख. । ३ इत्युक्तं ख. । ४ ना ख. । ५ अत्यजद्धि । ६ वनराजिकां. ख. ।

तयोस्तत्राभवत्पुत्रो जाम्बुवानिति[1] विश्रुतः ॥ १०० ॥
यस्यास्ति महती शक्तिर्विश्वकर्तृत्वसंभवी ।
स्वल्पतराय राज्याय किमसौ तप्यते वृथा ॥ १०१ ॥
न शक्नोत्यात्मनस्त्यक्तुं यो दुःखं विरहात्मकम् ।
कथं स्याद्विश्वकर्तृत्वे स्वामित्वं तस्य वेधसः ॥ १०२ ॥
यद्येवं सकलं विश्वं कुरुते कमलासनः ।
तदा संतिष्ठते क्वासौ सृष्टिनिर्मापणक्षणे ॥ १०३ ॥
यत्र स्थित्वा करोत्येष तदेव स्यान्महीतलम् ।
तत्रापि शेषभूतानि तत्कर्तृत्वमपार्थकम् ॥ १०४ ॥
सृष्टिनिर्मापणे कस्मादानीतो भूतसंग्रहः ।
कानि वा तत्र शस्त्राणि योग्यानि शिल्पिकर्मणि ॥ १०५ ॥
विनोपकरणैस्तेन विश्वं केभ्यो विधीयते ।
पृथिव्याद्यैस्तु कर्तृत्वं मिथ्या तेषामसंभवात् ॥ १०६ ॥
भूम्यादिपंचभूतानां यदि पूर्वमसंभवः ।
नास्त्यसंभविनां कर्ता संभविनां तु का क्रिया ॥ १०७ ॥
कर्तृत्वं द्विविधं वस्तुकर्तृत्वं वैक्रियोद्भवम् ।
आद्यं घटादिकर्तृत्वं द्वितीयं देवनिर्मितम् ॥ १०८ ॥
पर्यायानां[2] घटादीनां कौतस्कुतीह कर्तृता ।
विना भूतैः पृथिव्याद्यैर्घटनाया असंभवात् ॥ १०९ ॥
न[3] यान्ति मनसा कर्तुं विवर्णाः[4] पार्थिवा अपि ।
कथं कस्मात्समानीता तद्योग्या जीवसंहतिः ॥ ११० ॥

१ जाम्बुवंतोऽति ख. । २ पर्यायाणि ख. । ३ नायान्ति. ख. । ४ पर्यायाः ख. ।

समुत्पादोऽखिलार्थानां मानसो हि प्रजायते ।
न ह्यदृष्टपदार्थानां घटना क्वापि दृश्यते ॥ १११ ॥
यदि वैक्रियिकं विश्वं विद्याशक्त्या विनिर्मितम् ।
अवस्तुभूतसम्बन्धान्न भवेत्तच्चिरन्तनम् ॥ ११२ ॥
एवं सुवर्णगर्भस्य कर्तृत्वं नोपजायते ।
अनाद्यकृत्रिमस्यास्य विश्वस्येति विनिश्चयः ॥ ११३ ॥
चराचरमिदं विश्वं सशैलवनसागरम् ।
कृत्वा स्वोदरमध्यस्थं संरक्षति जनार्दनः ॥ ११४ ॥
असौ सन्तिष्ठते कस्मिन् स किं लोकाद्बहिर्भवः ।
तस्याङ्गनाश्च सैन्यानि क्व तिष्ठन्ति सहोदराः ॥ ११५ ॥
जानकीहरणासक्तः कृतदोषो दशाननः ।
हतो रामेण तौ स्यातां लोकान्तर्वर्तिनौ न किम् ॥ ११६ ॥
सारथ्यं पांडुपुत्रस्य कृत्वा कृष्णो निपातयेत् ।
कौरवान् निखिलांस्तेपि विश्वान्तर्वर्तिनो न किम् ॥ ११७ ॥
मायेयं तस्य तद्रूपमनन्तं निर्विकारकम् ।
तस्मात्तस्योदरे माति विश्वं तु मानगोचरम् ॥ ११८ ॥
विश्वगर्भमनन्तं स्याद्व्योमैकं तदचेतनम् ।
असावप्यनया युक्त्या विष्णुर्भवत्यचेतनः ॥ ११९ ॥
दशगर्भाश्रितं जन्म निर्विकारस्य जायते ।
असंभाव्यं भवत्येतद्वंध्या पुत्रानुकारिणाम् ॥ १२० ॥
अनेन हेतुनाऽकिंचित्करः स्यान्मधुसूदनः ।
तस्मान्न संभवत्यस्य विश्वरक्षाधिकारिता ॥ १२१ ॥

१ म. ख. । २ ण. क. ।

भस्मसात्कुरुते रुद्रस्त्रैलोक्यं स्वल्पचिन्तया ।
तदा संवसति कासौ गंगागौरीसमन्वितः ॥ १२२ ॥
दहत्येकतरं ग्रामं स पापी भण्यते जनैः ।
यो विश्वं निर्दहेत् सर्वं स कथं याति पूज्यताम् ॥ १२३ ॥
अनन्यसंभवीशक्तियुक्तस्य पृथिवीपतेः ।
पापं न विद्यते यस्मात्पापहन्ता स एव हि ॥ १२४ ॥
शम्भोर्न विद्यते पापं चेत्कथं भ्रमते भुवि ।
प्रतितीर्थं करालग्नब्रह्मशीर्षस्य हानये ॥ १२५ ॥
भ्रमन्प्राप्तः पलाशाख्यं ग्रामं यावत्कपालभृत्[1] ।
वत्सेन तत्र शृंगाभ्यां विदार्य मारितो द्विजः ॥ १२६ ॥
तत्पापात् स्वतनुं कृष्णं दृष्ट्वा सोऽथ विनिर्ययौ ।
निजमातरमापृच्छ्य तत्पापोच्छेदनेच्छया ॥ १२७ ॥
गतोऽनुमार्गतस्तस्य वृषभस्य महेश्वरः ।
गांगं ह्रदं प्रविष्टौ द्वौ[2] त्यक्तपापौ बभूवतुः ॥ १२८ ॥
वृषभस्योपदेशेन गंगातोयावगाहनात् ।
जातस्त्यक्तकपालोऽपि कपालीत्युच्यते जनैः ॥ १२९ ॥
यदि[3] यः स्वकृतं पापं निर्नाशयितुमक्षमः ।
सोऽन्येषां कल्मषापाये स्वामी स्यादिति कौतुकम् ॥१३०॥
ईदृक्पुराणसंदोहं श्रुत्वा युक्तिविवर्जितम् ।
विभ्रमन्ति[4] जनाः स्वैरं संसारगहने वने ॥ १३१ ॥
महास्कन्धस्य लोकस्य कर्ता हर्ता च रक्षकः ।
न कोऽपि विद्यते तस्माद्विपरीतमिदं वचः ॥ १३२ ॥

१ तावत् ख. । २ तौ. ख. । ३ यदि स्वयं कृतं ख. । ४ वंभ्रमन्ति ख।

इत्येतद्विपरीतात्ममिथ्यात्वं कथितं मया[1] ।
अतश्च क्षणिकैकान्तं मिथ्यात्वं तन्निगद्यते ॥ १३३ ॥

इति वेदान्तोक्तं विपरीतं मिथ्यात्वम् ।

क्षणिकैकान्तमिथ्यात्ववादी बौद्धो वदत्यतः[2] ।
उत्पन्नश्च प्रतिध्वंसी भवत्यात्मा प्रतिक्षणम् ॥ १३४ ॥
क्षणिके स्वीकृते जीवे क्षणादूर्ध्वमभावतः ।
पुण्यं पापं च तत्रापि कः प्राप्नोति पुरातनम् ॥ १३५ ॥
संयमो नियमो दानं कारुण्यं व्रतभावना ।
सर्वथा घटते नैषां नित्यक्षणिकवादिनाम् ॥ १३६ ॥
तेषां[3] बन्धो विना बन्धं देहो देहं विना तथा[4] ।
नास्ति मोक्षस्ततो नूनं नास्तिकत्वं प्रसज्यते ॥ १३७ ॥
ज्ञानं यदि क्षणध्वंसि बालत्वे चेष्टितं च यत् ।
इदं पुत्रकलत्राद्यं ममेति स्मर्यते कथम् ॥ १३८ ॥
स्मर्यते दृष्टिमात्रेण मैत्री वैरं पुरातनम् ।
निर्गतेन निजावासं पुनरागम्यते कथम् ॥ १३९ ॥
अन्यच्च क्षणिकैकान्ते वर्तन्ते स्वेच्छया जनाः ।
सुरामांसाशनेनैते मन्यन्ते मोक्षसाधनम् ॥ १४० ॥
पात्रे यत्पतितं सर्वं भक्ष्याभक्ष्यं च सेव्यते ।
अस्मच्छास्त्रे प्रयुक्तत्वान्नास्मिन् विचारणा मता ॥ १४१ ॥
सुरामांसाशनात्स्वर्गं मोक्षं च गम्यते यदि ।
दुःसहं नारकं भीमं प्राप्यते केन हेतुना ॥ १४२ ॥

---

१ यथा. ख. । २ त्यदः ख. । ३ नैषां. ख. । ४ न हि ख. ।

अन्ये धीवरशौण्डाद्याः सूनकारादयो जनाः ।
मुक्तिभाजो भवन्त्येते यदि तव्येदृशी श्रुतिः ॥ १४३ ॥
जीवो नित्यस्तु पर्याया अनित्यास्तु तदाश्रयात् ।
अनित्यत्वं हि जीवस्य कथंचिद्दृष्टमर्हता ॥ १४४ ॥
अतस्तत्तत्क्षणिकैकान्तमिथ्यात्वस्यापसारणम् ।
कृत्वा सम्यक्त्वहेतूनां प्रयत्नं क्रियतामिति ॥ १४५ ॥

इति नित्यक्षणिकैकान्तमिथ्यात्वम् ।

सत्तावबोधचैतन्यलक्षणो यः सनातनः ।
तस्याभावं वदत्येवं चार्वाको मानवर्जितः ॥ १४६ ॥
अचेतनानि भूतानि जीवः स्याच्चेतनात्मकः ।
कथं भवेद्विजातिभ्यः सचेतनस्य संभवः[3] ॥ १४७ ॥
भूतयोगात्मिका शक्तिश्चैतन्यमभिधीयते ।
पिष्टोदकगुडादिभ्यो मदशक्तिर्यथा भवेत् ॥ १४८ ॥
गर्भादिर्मरणपर्यन्तं तस्यावस्थानसंभवः ।
ततो नास्त्यन्यजीवत्वं विना तेनान्यलोकता ॥ १४९ ॥
मुक्त्वेह लौकिकं सौख्यं व्रतैः क्लिश्यन्त्यहर्निशम् ।
हा ! वंचितास्त एवास्मिन्नाशापाशवशीकृताः ॥ १५० ॥
अक्षसौख्याय संसेव्या भगी माता गुरुस्त्रियः ।
मद्याद्यं च न दोषोऽत्र जीवस्याभावतः स्फुटम् ॥ १५१ ॥
इत्येवं निगदन् दुष्टश्चार्वाकः किन्न विन्दति ।
सद्यः खण्डीकृतां जिव्हां प्रत्यक्षं चासिधारया ॥ १५२ ॥

---

१ मतस्य ह्यपसाररणं. ख. २ इति. ख–पुस्तके नास्ति । ३ अस्मादग्रे परः इति ख–पाठः, तस्यार्थः पर आहेति । ४ मृत्यु. ख. । ५ हि. ख. ।

अचेतनानि भूतानि नोपादानानि चेतने ।
मिथ्येति गोमयादिभ्यो वृश्चिकाद्युपदर्शनात् ॥ १५३ ॥
स्वसंवेदनवेद्यत्वात् सुखदुःखादिवद्ध्रुवम् ।
जीवसिद्धिं कथं नैते मन्यन्ते दुष्टवादिनः ॥ १५४ ॥
तावत्संवर्धते देहो यावज्जीवोपतिष्ठते ।
तस्याभावे न सा वृद्धिर्देहो विलयमाप्नुयात् ॥ १५५ ॥
पंचभूतात्मिके देहे देहिना वार्जिते न हि ।
संभूतिर्गमनादीनां प्रत्यक्षे भूतसंचये ॥ १५६ ॥
मृत्वायमभवद्रक्षो बन्धुर्वा जनको परः ।
नासत्यं जातु संभूयात् प्रसिद्धमिति सर्वतः ॥ १५७ ॥
जात्यनुस्मरणाज्जीवो गतागतविनिश्चयात् ।
पृथक्करणसादृश्याज्जीवोस्तीति विनिश्चयः ॥ १५८ ॥
नास्ति जीव इति व्यक्तं यद्वदन्तीह दुर्धियः ।
तन्मिथ्यात्वं परित्याज्यं सम्यक्त्वभावनाबलात् ॥ १५९ ॥

इति नास्तिकवादनिराकरणम् ।

तापसाः प्रवदंत्येवं सर्वे जीवाः शिवात्मकाः ।
ततस्तेषां प्रकुर्वीत विनयो मोक्षसाधकः ॥ १६० ॥
यद्यंगिनः शिवात्मानो वन्दकः किन्न तद्विधः ।
तस्मात्कः केन वन्द्यः स्याद्द्वयोः साम्यं शिवत्वयोः ॥ १६१ ॥
कर्मोपाधिविनिर्मुक्तं तद्रूपं शैवमुच्यते ।
यत्कर्मस्तोमसंयुक्तमशुद्धात्मकमित्यतः ॥ १६२ ॥

---

१ अस्मात्पूर्वं पर इति पाठः । २ जीवगतागत० ख. । ३ पृथक् पृथक् सादृश्यात् । ४ नास्तिकवादनिवारणं. ख. ।

योन वेत्ति परं स्वं च शुद्धाशुद्धस्वभावकम् ।
कथं तेनाप्यते मोक्षः सर्वेषां विनयादिह ॥ १६३ ॥
विनयो यदि सर्वेषां योग्यायोग्यक्रमादृते ।
किं न वन्द्याः खराद्याश्च मातङ्गाद्याः शिवाप्तये ॥ १६४ ॥
वन्दना क्रियते मूढैः पुत्रभार्याभिवाञ्छया ।
यक्षाद्यखिलदेवानां तुच्छानां कुत्सितात्मनाम् ॥ १६५ ॥
भुक्तिमात्रप्रदानेन स्वस्मै तृप्त्यभिलाषिणाम् ।
तेषां कौतस्कुती[1] शक्तिर्वाञ्छितार्थप्रदायिनी ॥ १६६ ॥
पूर्वभावार्जिता[2] वाप्तिर्जायते सुखदुःखयोः ।
देहिनां किं प्रकुर्वन्ति यक्षाद्याः देवताधमाः ॥ १६७ ॥
शैवाचार्या वदन्त्येके काले कल्पशते गते ।
मुक्तिं गतेषु जीवेषु लोकः शून्यो भवेदिति ॥ १६८ ॥
मुक्तिं गता पुनर्जीवाः पतन्तीश्वरचिन्तया ।
चतुर्गत्यात्मके भीमे संसारे दुःखसंकुले ॥ १६९ ॥
वन्हिः काष्ठसमुद्भूतः पुनः काष्ठं भवेद्यदि ।
तदा मुक्तिं गता जीवाः पुनः प्रयान्ति संसृतिम् ॥ १७० ॥
यस्य प्रयत्नमन्येषां पातनाय शिवात्मनाम् ।
परस्परविरुद्धत्वात् स शिवो वंद्यते कथम् ॥ १७१ ॥
कल्याणं परमं सौख्यं निर्वाणपदमच्युतम्[3] ।
साधितं येन देवेन स शिवः स्तूयते[4] बुधैः ॥ १७२ ॥
एवं वैनयिकं नाम मिथ्यात्वं दुर्गतेः पदम् ।
तमुत्सृज्य समाराध्यं शिवं रत्नत्रयात्मकम् ॥ १७३ ॥

इति विनयमिथ्यात्वम् ।

---

१ कौतस्तनी. ख. । २ पूर्वभवार्जिता. ख. । ३ निर्वाणं परमं पदं । ४ श्रूयते ।

ज्ञाता दृष्टा पदार्थानां त्रैलोक्योदरवर्तिनाम् ।
तस्याज्ञानस्वभावत्वं ब्रूते सांख्यो निरीश्वरः ॥ १७४ ॥

तस्य मतानुसारित्वमङ्गीकृत्य प्रकल्पितम् ।
मस्करीपूरणेनेह वीरनाथस्य संसदि ॥ १७५ ॥

जिनेन्द्रस्य ध्वनिग्राहिभाजनाभावतस्ततः ।
शक्रेणात्र समानीतो ब्राह्मणो गौतमाभिधः ॥ १७६ ॥

सद्यः सदीक्षितस्तत्र स ध्वनेः पात्रतां ययौ ।
ततो देवसभां त्यक्त्वा निर्ययौ मस्करी मुनिः ॥ १७७ ॥

सन्त्यस्मदादयोऽप्यत्र मुनयः श्रुतधारिणः ।
तांस्त्यक्त्वा स ध्वनेः पात्रमज्ञानी गौतमोऽभवत् ॥ १७८ ॥

संचिंत्यैवं क्रुधा तेन दुर्विदग्धेन जल्पितम् ।
मिथ्यात्वकर्मणः पाकादज्ञानत्वं हि देहिनाम् ॥ १७९ ॥

हेयोपादेयविज्ञानं देहिनां नास्ति जातुचित् ।
तस्मादज्ञानतो मोक्ष इति शास्त्रस्य निश्चयः ॥ १८० ॥

यत्कालान्तरितं वस्तु दृष्टपूर्वमनेकधा ।
यद्यज्ञानी कथं तस्य चेतृत्वं दृश्यतेऽङ्गिनः ॥ १८१ ॥

अयं बन्धुः पिता सुनुर्मातेयं भगिनी प्रिया ।
एषां पृथक्क्रिया तस्य ज्ञानहीनस्य दुर्घटा ॥ १८२ ॥

पंचाक्षविषयाः सर्वैः सेव्यन्ते स्वेच्छया कथम् ।
पाषणस्तंभवत्तस्य न काचित् कर्तृता मता ॥ १८३ ॥

ज्ञानं विना न चारित्रं तद्विना ध्यानसाधनम् ।
ध्यानं विना कथं मोक्षस्तस्माज्ज्ञानं सतां मतम् ॥ १८४ ॥

ततो भव्यैः समाराध्यं सम्यग्ज्ञानं जिनोदितम् ।
असाधारणसामग्र्यं निःशेषकर्मणां क्षये ॥ १८५ ॥
इत्येवं पंचधा प्रोक्तं मिथ्यात्वं तद्वशाज्जनाः ।
संसाराब्धौ निमज्जन्ति दुःखकल्लोलसंकुले ॥ १८६ ॥

इत्यज्ञानमिथ्यात्वम् ।

अथोर्ध्वं स्वमतोद्भूतं मिथ्यात्वं तन्निगद्यते ।
विहितं जिनचन्द्रेण श्वेताम्बरमताभिधम् ॥ १८७ ॥
सषड्विंशे शतेऽब्दानां मृते विक्रमराजनि ।
सौराष्ट्रे वल्लभीपुर्यामभूत्तत्कथ्यते मया ॥ १८८ ॥
उज्जयिन्या पुरी ख्याता देशेऽस्त्यवन्तिकाभिधे ।
तत्राष्टाङ्गनिमित्तज्ञो भद्रबाहुर्मुनीश्वरः ॥ १८९ ॥
निमित्तज्ञानतस्तेन कथितं मुनिजनान् प्रति ।
प्रभवत्यत्र दुर्भिक्षं वर्षद्वादशकावधि ॥ १९० ॥
निशम्येति वचस्तस्य नान्यथा स्यात्कदाचन ।
सर्वे स्वस्वगणोपेताः प्रतिदेशं विनिर्ययुः ॥ १९१ ॥
शान्तिनामा गणी चैकः संप्राप्तो विहरन् पुरीम् ।
साराष्ट्रीं वल्लभीं यावत्तत्र संतिष्ठते स्म सः ॥ १९२ ॥
तत्राप्यभून्महाभीमं दुर्भिक्षमतिदुःसहम् ।
विदार्योदरमन्येषामन्नं रंकैर्विभुज्यते ॥ १९३ ॥
ततः सोढुमशक्तैस्तैः स्वकीयोदरपूर्तये ।
सच्चारित्रं परित्यज्य स्वीकृता कुत्सिता क्रिया ॥ १९४ ॥

---

१ उज्जयिन्यां पुरा ख्यातो देशोऽस्त्यवन्तिकभिधः इति क–पुस्तके पाठः स च असंगतत्वात् बहिर्निष्कास्य ख–पुस्तकस्थः संयोजितः । २ मंतं ख. ।

गृहीत्वा चीवरं दण्डं भिक्षापात्रं च कंबलम् ।
भिक्षाशनं समानीय स्वावासे[1] भुज्यते सदा ॥ १९५ ॥
कियत्काले गतेऽप्येवं जाता सुभिक्षता ततः ।
भणितं संघमाहूय शान्तिना गणधारिणा ॥ १९६ ॥
त्यजध्वं कुत्सिताचारं भजध्वं शुद्धसद्दशम् ।
कुरुध्वं गर्हणं निन्दां गृह्णीध्वं सद्व्रतं पुनः ॥ १९७ ॥
आकर्ण्येत्यग्रजः शिष्यो जिनचन्द्रो ब्रवीदिदम् ।
नो शक्यतेऽधुना धर्तुं जिनैराचा[2]रितं व्रतम् ॥ १९८ ॥
ब्रह्मचर्यमचेलत्वं नग्नत्वं स्थितिभोजनम् ।
भूतले शयनं मौनं द्विमासं केशलुञ्चनम् ॥ १९९ ॥
एकस्थानमलाभत्वं सर्वाङ्गमलधारणम् ।
असह्यान्यन्तरायाणि भिक्षानियतकालिकी ॥ २०० ॥
न शक्या मनसा सोढुं द्वाविंशतिपरीषहाः ।
इत्याद्यनेकधा दुःखमधुना केन सह्यते ॥ २०१ ॥
इदानींतनमाचारं सुखसाध्यं न शक्यते ।
तत्परित्यक्तुमस्माभिस्तस्मान्मौनं भजस्व हि ॥ २०२ ॥
ततोऽभाणि गणी नैवं सुन्दरं यत्त्वयोदितम् ।
स्वोदरपूर्तये हेतुर्नो हेतुर्मोक्षसाधने ॥ २०३ ॥
तद्रोषात्पापिना मूर्ध्नि हत्वा दण्डेन मारितः ।
मृत्वा चैत्यगृहे तस्मिन्नाचार्यो व्यंतरोऽभवत् ॥ २०४ ॥
ततः शिष्यमुख्यं यावत्स्वयं भूत्वा गणाग्रणीः ।
तावत्शिक्षां पुनर्दातुं प्रारेभे व्यन्तरामरः ॥ २०५ ॥

१ स्वावासं ख. । २ राचरितं ख. ।

भीतेन तस्य शान्त्यर्थं काष्ठमष्टांगुलायतम् ।
चतुरस्रं च स एवार्यमिति संकल्प्य पूजितः ॥ २०६ ॥
श्वेताम्बरैः परिस्थाप्य समर्चितो यथाविधि ।
ततस्तेन परित्यक्तं चेष्टितं विक्रियात्मकम् ॥ २०७ ॥
समभूत् कुलदेवोऽसौ पर्युपासनसंज्ञकः ।
अद्यापि जलगन्धाद्यैः प्रपूज्यतेऽतिभक्तितः ॥ २०८ ॥
अन्तरे श्वेतसद्वस्त्रं धृत्वा तस्यार्चनं कृतम् ।
तस्मादभूदिदं लोके श्वेताम्बरमताभिधम् ॥ २०९ ॥
समुत्पन्नेऽपि कैवल्ये भुनक्ति केवली जिनः ।
नारीणां तद्भवे मोक्षः साधूनां ग्रन्थसंयुजाम् ॥ २१० ॥
ईदृशं शास्त्रसंदोहं विपरीतं जिनोक्तितः ।
संविधाय वदत्येष गुरुद्रोही निरंकुशः ॥ २११ ॥
यस्यानन्तसुखं तस्य नास्त्याहारप्रसंगता ।
यद्यस्त्यनन्तसौख्यानां व्याघातो जायते ध्रुवम् ॥ २१२ ॥
नास्ति क्षुधां विनाहारः क्षुन्मुख्या दोषसंहतिः ।
इति हेतोर्जिनेन्द्रस्य सदोषत्वं प्रसज्यते ॥ २१३ ॥
वेदनीयस्य सद्भावे बुभुक्षाद्यं प्रजायते ।
तस्मात्केवलिनां भुक्तिर्न भवेद्दोषकारिणी ॥ २१४ ॥
दग्धरज्जुसमं वेद्यं स्वशक्तिपरिवर्जितम् ।
असमर्थं स्वकार्यस्य कर्तृत्वे क्षीणमोहिनि ॥ २१५ ॥
मोहमूलं भवेद्वेद्यं मोहविच्छेदमीयुषि ।
तद्धेतोर्निष्फलं वेद्यं छिन्नमूलतरुर्यथा ॥ २१६ ॥

बुभुक्षा भोक्तुमिच्छा स्यादिच्छापि मोहजा स्मृता ।
तत्क्षये वीतरागस्य भोजनात्[1] स्यात्सदोषता ॥ २१७ ॥

तद्यथा—

अक्षार्थेषु विरक्तस्य गुप्तित्रयोपसंयुजः[2] ।
साधोः सम्पद्यते ध्यानं निश्चलं कर्मणां रिपुः ॥ २१८ ॥
ध्यानात्समरसीभावस्तस्मात्स्वात्मन्यवस्थितिः ।
ततस्तु कुरुते नूनं निःशेषं मोहसंक्षयम् ॥ २१९ ॥
भूत्वाथ क्षीणमोहात्मा शुक्लध्याने द्वितीयके[3] ।
स्थित्वा घातिक्षयं[4] कृत्वा केवली प्रभवत्यसौ ॥ २२० ॥
दशाष्टदोषनिर्मुक्तो लोकालोकप्रकाशकः ।
अनन्तसुखसंतृप्तः कथं भुनक्ति केवली ॥ २२१ ॥
सन्ति क्षुधादयो दोषाः कियन्तश्चेज्जिनेशिनः ।
निर्दोषो वीतरागोऽसौ परमात्मा कथं भवेत् ॥ २२२ ॥
अथौदासीन्ययुक्तानां साधूनां भोजनादिकम् ।
कुर्वतां वीतरागत्वं सर्वेषां सम्मतं सताम् ॥ २२३ ॥
मिथ्यात्वज्वरसम्पन्नतीव्रदाघवतामयम् ।
प्रलापस्तूपचारेण वीतरागा ह्यमी यतः ॥ २२४ ॥
विनाहारं न च क्वापि दृश्यतेऽत्र तनुस्थितिः ।
तस्मात्केवलिभिर्नूनमाहारो गृह्यते सदा ॥ २२५ ॥
नोकर्मकर्मनामा च लेपाहारोऽथ मानसः ।
ओजश्च कवलाहारश्चेत्याहारो हि षड्विधः ॥ २२६ ॥

१ भोजनं ख. । २ संयुक्तः ख. । ३ तृतीयके ख. । ४ घातित्रयं हत्वा ख. ।

एवमनेकधाहारो देहस्य स्थितिकारणम् ।
तन्मध्ये कवलाहारो वान्यो देहस्थितौ भवेत् ॥ २२७ ॥
नोकर्मकर्मनामानमाहारं गृह्णतोऽर्हतः ।
देहस्थितिर्भवत्येतदस्माकमपि सम्मतम् ॥ २२८ ॥
आहोस्वित्कवलाहारपूर्विका स्यात्तनुस्थितिः ।
त्वयैवं भण्यते तत्र प्रसिद्धा व्यभिचारिता ॥ २२९ ॥
एकेन्द्रियेषु जीवेषु लेपाहारः प्रजायते ।
आहारो मानसो देवसमूहेष्वखिलेष्वपि ॥ २३० ॥
इति हेतोर्जिनेन्द्रस्य कवलाहारपूर्विका ।
देहस्थितिर्न वक्तव्या त्वया स्वप्नेऽपि दुर्मते ! ॥ २३१ ॥
एकादश जिने सन्ति बुभुक्षाद्याः परीषहाः ।
तस्मात्केवलिनां भुक्तिरनिवार्या भवादृशैः ॥ २३२ ॥
किमेवं क्रियते मूढ ! पुनश्चर्वितचर्वणम् ।
क्षुत्पिपासादयो दोषा यस्मात्पूर्वं निराकृताः ॥ २३३ ॥
क्षुत्पिपासादयो यस्मान्न समर्था मोहसंक्षये ।
द्रव्यकर्माश्रयात्तेषामस्तित्वमुपचारतः ॥ २३४ ॥
अस्तु वा तस्य वेद्योत्थबुभुक्षाया विचारणा ।
अनेकजीवहिंसाद्यं पश्यन् भुंक्ते कथं जिनः ॥ २३५ ॥
यस्माच्छुद्धमशुद्धं वा स्वल्पज्ञानयुता जनाः ।
कुर्वन्ति भोजनं तद्वत् केवली कुरुते कथम् ॥ २३६ ॥

१ अस्याग्रेऽयं पाठः ख–पुस्तके । उक्तं चान्यत्र—
णोकम्मं तित्थयरे कम्मं णारेय माणसो अमरे ।
णरपसुकवलाहारो पक्खी ओजो णगे लेओ ॥ १ ॥
२ ष्वेते ख. ।

अन्तरायान् विना तस्य प्रवृत्तिर्भोजने यदि ।
श्रावकेभ्योऽतिनीचत्वं निन्दास्पदं प्रजायते ॥ २३७ ॥
करोति चान्तरायांश्च दृष्टे चायोग्यवस्तुनि ।
तदा सर्वज्ञभावस्य दत्तस्तेन जलाञ्जलिः ॥ २३८ ॥
तथापि कवलाहारं ये वदन्ति जिनेशिनः ।
सुरास्वादमदोन्मत्ता जल्पन्ति घूर्णिता इव ॥ २३९ ॥

इति केवलिभुक्तिनिराकरणम् ।

अथ स्त्रीणां भवे तस्मिन् मोक्षोऽस्तीति वदन्ति ये ।
ते भवन्ति महामोहग्रहग्रस्ता जना इव ॥ २४० ॥
यद्यपि कुरुते नारी तपोऽप्यत्यन्तदुःसहम् ।
तथापि तद्भवे तस्या मोक्षो दूरतरो हि सः ॥ २४१ ॥
तस्या जीवो न किं जीवो जीवमात्रोऽथवा स्मृतः ।
मोक्षा वाप्तिर्न जायेत नारीणां केन हेतुना ॥ २४२ ॥
जीवसामान्यतो मुक्तिर्यद्यस्ति चेत्प्रजायताम् ।
मातंगिन्याद्यशेषाणां नारीणामविशेषतः ॥ २४३ ॥
सदैवाशुद्धता योनौ गलन्मलाश्रयत्वतः ।
रजःस्खलनमेतासां मासं प्रति प्रजायते ॥ २४४ ॥
उत्पद्यन्ते सदा स्त्रीणां योनौ कक्षादिसन्धिषु ।
सूक्ष्मापर्याप्तका मर्त्यास्तद्देहस्य स्वभावतः ॥ २४५ ॥
स्वभावः कुत्सितस्तासां लिंग चात्यन्तकुत्सितम् ।
तस्मान्न प्राप्यते साक्षाद्द्वेधा संयमभावना ॥ २४६ ॥

---

१ इति ख-पुस्तके नास्ति ।

उत्कृष्टसंयमं मुक्त्वा शुक्लध्याने न योग्यता ।
नो मुक्तिस्तद्विना[1] तस्मात्तासां मोक्षोऽस्ति दूरगः ॥ २४७ ॥
सप्तमं नरकं गन्तुं शक्तिर्यासां न विद्यते ।
आद्यसंहननाभावान्मुक्तिस्तासां कुतस्तनी ॥ २४८ ॥
योषित्स्वरूपतीर्थेशां तल्लिंगस्तनभूषिताः ।
अर्चाः प्रतिष्ठिताः क्वापि विद्यन्ते चेत्प्रकथ्यताम् ॥ २४९ ॥
न सन्ति चेन्मताभावः सन्ति चेद्धण्डिमास्पदम् ।
एवं दोषद्वयासंगान्मोक्षो न घटते स्त्रियः ॥ २५० ॥
कुलीनः संयमी धीरो निःसंगो विजितेन्द्रियः ।
संप्राप्नोति पुमानेव मुक्तिकान्तासमागमम् ॥ २५१ ॥

[2]इति स्त्रीमोक्षनिराकरणम् ।

मुक्त्वा निर्ग्रन्थसन्मार्गं मोक्षैकसाधनं नृणाम् ।
सग्रन्थत्वेन मोक्षोऽस्ति प्रवदन्तीति दुर्द्धियः ॥ २५२ ॥
सग्रन्थत्वेन मोक्षस्य यद्यस्ति साधनं परम् ।
आदीश्वरेण साम्राज्यं राज्यं त्यक्तं कथं वद ॥ २५३ ॥
आद्यसंहननोपेतः कुलजोऽपि न सिद्ध्यति ।
विना निर्ग्रन्थलिंगेन नरः सर्वांगसुन्दरः ॥ २५४ ॥
न ह्येवं चीवरं दण्डं भिक्षापात्रादिसंयुतम् ।
इत्युपकरणं साधु गृह्यते मोक्षकाम्यया ॥ २५५ ॥

१–२४७ तमश्लोकस्योत्तरार्द्धं २४८ तम श्लोकस्य पूर्वार्धं ख–पुस्तकाद्धृतं ।
२ मुक्त्वा निर्ग्रन्थसन्मार्गं इत्यादि श्लोकादुत्तरं 'स्त्रीनिर्वाणनिराकरणं।' इति पाठः क–पुस्तके ।

लिक्षायूकाश्रयस्थानं वस्त्रादीनां परिग्रहः ।
तस्यादानविनिक्षेपात् क्षालनादङ्गिनां वधः ॥ २५६ ॥
वस्त्रयाचनया दैन्यं प्राप्तौ व्यामोहता भवेत् ।
तस्मात्संयमहानिः स्यान्निर्मलत्वं च दूरगम् ॥ २५७ ॥
ततोऽन्तर्बाह्यभेदाभ्यां ग्रन्थाभ्यां परिवर्जितम् ।
जिनेन्द्रकथितं लिंगं सम्यक्त्वं तस्य भावना ॥ २५८ ॥
ससम्यक्त्वस्य जीवस्य चारित्रं मोक्षसाधकम् ।
तस्मान्नैर्ग्रन्थ्यतायुक्तं जिनलिंगं प्रशस्यते ॥ २५९ ॥
संयमोऽयं हि दुःसाध्यो जिनकल्पात्मिकोऽधुना ।
ततः स्थविरकल्पस्य वृत्तमस्माभिराश्रितम् ॥ २६० ॥
जिनकल्पोऽस्ति दुःसाध्यः सर्वसंगपरिच्युतः ।
तस्मात्त्वयैव नैर्ग्रन्थ्यं प्रमाणीकृतमञ्जसा ॥ २६१ ॥
नैवं परिग्रहाः सन्ति कल्पे स्थविरसंज्ञके ।
तस्याश्रयेऽपि तद्वाक्यं त्वयैव विफलीकृतम् ॥ २६२ ॥
अथैतत्कथ्यते वृत्तं जिनकल्पाभिधानकम् ।
यस्मान्मुक्तिवधूसंगो भव्यानां जायते ध्रुवम् ॥ २६३ ॥
शुद्धसम्यक्त्वसंयुक्ता विजिताक्षकषायकाः ।
श्रुतमेकादशाङ्गं ये जानन्त्येकाक्षरं यथा ॥ २६४ ॥
पादयोः कण्टकं लैग्नं नेत्रयो रजसंगमे ।
स्वयं नापनयन्त्यन्यैः स्फेटिते मौनधारणम् ॥ २६५ ॥
आद्यसंहननोपेताः संततं मौनधारिणः ।
गुहायां पर्वतेऽरण्ये वसन्ति निम्नगातटे ॥ २६६ ॥

---

१ वस्त्रादिपरिग्रहस्य । २ भग्नं. ख. ।

वर्षासु मासषट्कं हि मार्गे जातेऽङ्गिसंकुले ।
निराहारा वितिष्ठन्ते[1] कायोत्सर्गेण निस्पृहाः ॥ २६७ ॥
सन्मोक्षसाधने निष्ठा रत्नत्रयविभूषिताः ।
निःसंगा निरता बाढं ध्यानयोर्धर्मशुक्लयोः ॥ २६८ ॥
मुनयोऽनियतावासा विहरन्ति जिना यथा ।
ततस्ते गणिभिः प्रोक्ता जिनकल्पाभिधानकाः ॥ २६९ ॥
अन्ये स्थविरकल्पस्था यतयो जिनलिङ्गिनः ।
सम्यक्त्वामलदुग्धाम्बुनिमग्नीकृतचेतसः ॥ २७० ॥
अष्टाविंशतिसंख्याकैः पंचमहाव्रतादिभिः[2] ।
मूलगुणैः समायुक्ता ध्यानाध्ययनतत्पराः ॥ २७१ ॥
शीलव्रतेषु संसक्ता दशधाधर्मतत्पराः ।
अन्तर्बाह्यतपोनिष्ठाः पंचाचारसमन्विताः ॥ २७२ ॥
जीर्णे तृणे[3] सुवर्णादौ मित्रे शत्रुसमागमे ।
दुःखोत्पत्तौ च सौख्ये च यतयः समबुद्धयः ॥ २७३ ॥
वदन्ति धर्मशास्त्रार्थमन्यथा[4] मौनधारिणः ।
निःस्पृहा निरहंकाराः सर्वसत्वदयापराः ॥ २७४ ॥
केचिच्छ्रुतार्णवोत्तीर्णा मनःपर्ययबोधनाः ।
अवधिज्ञानिनः केचिदनागारा यतीश्वराः ॥ २७५ ॥
अवधेः प्राक् प्रगृह्णन्ति मृदुपिच्छं यथागतम् ।
यत्स्वयं पतितं भूमिप्रतिलेखनशुद्धये[5] ॥ २७६ ॥

१ च तिष्ठन्ति ख—पाठः । २ पंचभिश्च महाव्रतैः ख. । ३ जीर्णतृणे ख. ।
४ शास्त्रोपदेशादन्यसमये । ५ योः क. ।

स्थविरादिगणत्राणपोषणाहितमानसाः ।
ततः स्थविरकल्पस्था भण्यन्ते गणनायकैः ॥ २७७ ॥
संप्रति दुःषमे काले नीचसंहननाश्रयात् ।
संजाता[1] नगरग्रामजिनावासनिवासिनः ॥ २७८ ॥
नीचसंहननं कालो दुसहश्चपलं मनः ।
तथापि संयमोद्युक्ता महाव्रतधुरंधराः ॥ २७९ ॥
पुस्तकं च यथायोग्यं गृह्णन्ति संयमार्थिनः ।
अनवद्यं विशुद्धं यद्विना याचनयागतम् ॥ २८० ॥
गृह्णन्ति यतयो वस्तु दर्शनाद्यविघातकम् ।
न तद्विरोधि वस्त्रादि यत्र सावद्यसंभवः ॥ २८१ ॥
ईदृक्स्थविरकल्पः स्यात्सर्वसंगपरिच्युतः ।
अन्यो गृहस्थकल्पोऽयं यत्र वस्त्रादिसंग्रहः ॥ २८२ ॥
अयं गृहस्थकल्पस्तु निर्दिष्टः श्वेतवाससां[2] ।
इन्द्रियार्तिहरस्तेषां मुक्तये नैव जायते ॥ २८३ ॥
इत्येतन्मतमालम्व्य ये वर्तन्ते यदृच्छया ।
मिथ्यात्वान्धतमस्तोमपटलावृतलोचनाः ॥ २८४ ॥
ये[3] चान्ये काष्ठसंघाद्या मिथ्यात्वस्य प्रवर्तनात् ।
आयत्यां प्राप्नुयुर्दुःखं चतुर्गतिषु सन्ततम् ॥ २८५ ॥

इति सग्रन्थमोक्षमार्ग-श्वेताम्बरमतनिराकरणम् ।

---

१ संवाह. ख. । ग्रामविशेषः । २ वाससा ख. । ३ ख—पुस्तकेऽयंश्लोको नास्ति ।

मिथ्यात्वालंबनापाकात् प्रयान्ति नारकीं गतिम् ।
यत्रास्ति दुःखमत्युग्रमन्योन्योदीरितं महत् ॥ २८६ ॥
तस्मान्निर्गत्य तैरश्चीं गतिं प्राप्यानुभूयते ।
भारातिवाहनाद्यं यद्धीमं दुःखमनेकधा ॥ २८७ ॥
कथंचिन्मानुषं जन्म प्राप्तं तत्रापि सह्यते ।
अर्थार्जनविहीनत्वाद्दुःखं स्वोदरपूर्तये ॥ २८८ ॥
काकतालीयकन्यायाद्गतिर्दैवी समाप्यते ।
तत्रास्ति मानसं दुःखं हीनाधिकविभूतितः ॥ २८९ ॥
एवमनेकधा दुःखं दुःखं दुःखं पुनः पुनः ।
ततो मिथ्यात्वमुत्सृज्य सम्यक्त्वे भावनां कुरु ॥ २९० ॥
इत्येवं पंचधा प्रोक्तं मिथ्यादृष्ट्यभिधानकम् ।
नोपादेयमिदं सर्वं मिथ्यात्वविपदोपतः ॥ २९१ ॥

इति[2] प्रथमं मिथ्यात्वं गुणस्थानम् ।

अतः सासादनं नाम गुणस्थानद्वितीयकम् ।
निगद्यतेऽत्र मुख्यो हि भावः स्यात्पारिणामिकः ॥ २९२ ॥
सम्यक्त्वासादने नाम वर्तनं यस्य विद्यते ।
सासादन इति प्राहुर्मुनयो भाववेदिनः ॥ २९३ ॥
अनादिकालसंभूतमिथ्याकर्मोपशान्तितः ।
स्यादौपशमिकं नाम सम्यक्त्वमादिमं हि तत् ॥ २९४ ॥
संत्यज्य वेदकं याति प्रशान्तात्मिकया[4] दृशम् ।
गत्वा वा सादिमिथ्यात्वं द्वितीया सा दृगुच्यते ॥ २९५ ॥

---

१ सुखं. ख. । २ अयं पाठःख–पुस्तके २९२ श्लोकादुत्तरं । स च 'इत्याद्यऽमिथ्यात्वं गुणस्थानं प्रथमं' इत्येवं रूपः । ३ मिति. ख. । ४ प्रशान्तात्मिकयोदृशं क ।

आद्योपशमसम्यक्त्वात् प्रच्युतो याति वामताम् ।
च्युतोऽथवा द्वितीयं[1] स्यान्मिथ्यात्वं याति वा न वा ॥२९६॥

द्विकलम्—

आद्योपशमसम्यक्त्वरत्नाद्रेर्वा परिच्युतः ।
एकतरोदये जाते मध्येऽनन्तानुबन्धिनाम् ॥ २९७ ॥
समयादावलीषट्कं कालं यावन्न गच्छति ।
मिथ्यात्वभूतलं जीवस्तावत्सासादनो भवेत् ॥ २९८ ॥
अपूर्णश्वभ्रजीवेषु लब्ध्यपर्याप्तजन्तुषु ।
सर्वेष्वपि न जायेत सासादनो विनिश्चितम् ॥ २९९ ॥
आहारकद्वयं तीर्थकर्तृत्वनामकर्म च ।
सासादनो न बध्नाति सम्यक्त्वस्य विराधनात् ॥ ३०० ॥
भव्यत्वोदयता तस्य सम्यक्त्वग्रहणाद्विदुः ।
तद्ग्रहणस्य सामर्थ्यात्कियत्कालेन सिद्ध्यति ॥ ३०१ ॥
पश्य सम्यक्त्वमाहात्म्यं कियत्कालाप्तिसंभवम् ।
ततोऽत्र भावना भव्य ! कर्तव्याहर्निशं त्वया ॥ ३०२ ॥
[2]सासादनगुणस्थानं व्यवहारात्प्रकथ्यते ।
क्षायोपशमिको भावो मुख्यत्वेनेह जायते ॥ ३०३ ॥

इति[3] द्वितीयं सासादनं गुणस्थानम् ।

---

१ द्वितीयस्मात् क. । २ श्लोकोऽयं ख-पुस्तके नास्ति । ३ 'सासादनगुण-स्थानं द्वितीयं' इति ख-पाठः ।

अथ मिश्रगुणस्थानं प्रकथ्यते यथागमम् ।
क्षायोपशमिको भावो मुख्यत्वेनेह जायते ॥ ३०४ ॥
मिश्रकर्मोदयाज्जीवे पर्यायः सर्वघातिजः ।
न सम्यक्त्वं न मिथ्यात्वं भावोऽसौ मिश्र उच्यते ॥३०५॥
अहिंसालक्षणो धर्मो यज्ञादिलक्षणोऽथवा ।
मन्यते समभावेन मिश्रकर्मविपाकतः ॥ ३०६ ॥
जिनोक्तिं मन्यते यद्वदन्योक्तिं मन्यते तथा ।
देवे दोषोज्झिते भक्तिस्[1]तथैव दोषसंयुते ॥ ३०७ ॥
निर्ग्रन्था यतयो वन्द्यास्तथैव द्विजतापसाः ।
यत्रैषा जायते बुद्धिर्मिश्रं स्यात्तद्गुणास्पदम् ॥ ३०८ ॥
गोदुग्धे चार्कदुग्धे वा समताविलबुद्धयः ।
हेयोपादेयतत्त्वेषु यथैते विकलाशयाः ॥ ३०९ ॥
जैनभावो[2] वदन्त्येवं ममैताः कुलदेवताः ।
चंडिकारामसाताद्या महालक्ष्मीर्महालयाः ॥ ३१० ॥
अर्चन्ति परया भक्त्या प्रनृत्यन्ति तदग्रतः ।
ऐहिकाशामहामोहा[3]व्याकुलीकृतचेतसः ॥ ३११ ॥
मोहार्त्तः कुरुते श्राद्धं पितॄणां तृप्तिहेतवे ।
अजानन् जीवसद्भावगतिस्थित्यादिवर्तनम् ॥ ३१२ ॥
इत्येतद्वर्तनं सर्वं मिश्रभावसमाश्रितम् ।
येषां ते मिश्रभावाढ्या भ्रमन्ति भवपद्धतौ ॥ ३१३ ॥
सम्यग्मिथ्यात्वयोर्मध्ये यदेकतरभावना ।
तया स्यात्तस्य तन्नाम मिश्रं स्थानं ततो न हि ॥३१४ ॥

---

१ भक्ति. ख । २ जैनभावो वदत्येवं. ख. । ३ महामोहव्या. ख. ।

न ह्येवं सुप्रसिद्धोऽस्ति भावान्तरसमुद्भवः।
सर्वशास्त्रेषु सर्वत्र बालगोपालसम्मतः॥ ३१५॥
जात्यन्तरसमुद्भूतिर्वडवाखरयोर्यथा।
गुडदध्नोः समायोगे रसान्तरं यथा भवेत्॥ ३१६॥
तथा धर्मद्वये श्रद्धा जायते समबुद्धितः।
मिश्रोऽसौ भण्यते तस्माद्भावो जात्यन्तरात्मकः॥ ३१७॥
सकलाणुव्रते न स्तो नायुर्बन्धो भवेत्कचित्।
मारणान्तं समुद्घातं न कुर्यान्मिश्रभावतः॥ ३१८॥
मृत्युं न लभते जीवो मिश्रभावं समाश्रितः।
सद्दृष्टिर्वामदृष्टिर्वा भूत्वा मरणमश्नुते॥ ३१९॥
सम्यग्मिथ्यात्वयोर्मध्ये येनायुरर्जितं पुरा।
म्रियते तेन भावेन[1] गतिं यान्ति तदाश्रिताम्॥ ३२०॥
मिश्रभावमिमं त्यक्त्वा सम्यक्त्वं भज सन्मते!।
मुक्तिकान्तासुखावाप्त्यै यद्यस्ति विपुला मतिः॥ ३२१॥

इति तृतीयं[2] मिश्रगुणस्थानम्।

असंयतगुणस्थानमतो वक्ष्ये चतुर्थकम्।
सोपानमादिमं मोक्षप्रासादमधिरोहताम्॥ ३२२॥
तत्रौपशमिको भावः क्षायोपशमिकाह्वयः।
क्षायिकश्चेति विद्यन्ते त्रयो भावा जिनोदिताः॥ ३२३॥

---

१ याति। २ अयं पाठः क-पुस्तके ३२२ श्लोकादुत्तरं। 'मिश्रगुणस्थानं तृ-तीयं' इत्येवं रूपः ख-पुस्तके पाठः।

अक्षेषु विरतो नैव न स्थावरे वराङ्गिषु ।
द्वितीयानां कषायाणां विपाकादव्रतो यतः ॥ ३२४ ॥
श्रद्धानं कुरुते भव्यो ह्याज्ञयाधिगमेन वा ।
द्रव्यादीनां यथाम्नायं सम्यग्दृष्टिरसंयतः ॥ ३२५ ॥
परिच्छित्तौ पदार्थानां हर्षोल्लसितचेतसि ।
या रुचिर्जायते साध्वी तच्छ्रद्धानमिति स्मृतम् ॥ ३२६ ॥
आप्तागमयतीशानां तत्वानामल्पबुद्धितः ।
जिनाज्ञयैव विश्वासो भवत्याज्ञा हि सा परा ॥ ३२७ ॥
घातिकर्मक्षयोद्भूतकेवलज्ञानरश्मिभिः ।
प्रकाशकः पदार्थानां त्रैलोक्योदरवर्तिनाम् ॥ ३२८ ॥
सर्वज्ञः सर्वतो व्यापी त्यक्तदोषो ह्यवंचकः ।
देवदेवेन्द्रवन्द्यांह्रिराप्तोऽसौ परिकीर्तितः ॥ ३२९ ॥
पूर्वापरविरुद्धात्मदोषसंघातवर्जितः ।[1]
यथावद्वस्तुनिर्णीतिर्यत्र स्यादागमो हि सः ॥ ३३० ॥
विराजतेऽष्टविंशत्या शुद्धैर्मूलगुणैः सदा ।
भेदाभेदनयाक्रान्तो रत्नत्रयविभूषणैः ॥ ३३१ ॥
ऐहिकाशापरित्यक्तो धर्मशास्त्रार्थतत्परः ।
रागद्वेषविनिर्मुक्तो दशधर्मसमन्वितः ॥ ३३२ ॥
निःशल्यो निरहंकारः परिग्रहपरिच्युतः ।
पक्षपातोज्झितः शान्तः स मुनिर्वन्द्यते मया ॥ ३३३ ॥
सूक्ष्मे जिनोदिते तत्वे नास्ति चेन्महती मतिः ।
आप्तोदितं यथाम्नायं श्रद्धानं[2] क्रियते तथा ॥ ३३४ ॥

१ विरोधो नैव विद्यते ख. । २ श्रद्धातव्यं मनीषिभिः ख. ।

एवमाज्ञाभवो भावः प्ररूपितः समासतः[1]।
अतोऽधिगमभावस्य लक्षणं कथ्यते यथा ॥ ३३५ ॥
निश्चीयते पदार्थानां लक्षणं नय[2]भेदतः।
सोऽधिगमोऽभिमन्तव्यः सम्यग्ज्ञानविलोचनैः ॥ ३३६ ॥
द्रव्याणि षट्प्रकाराणि जीवोऽथ पुद्गलस्तथा।
धर्माधर्मनभःकाला अतस्तेषां प्ररूपणम् ॥ ३३७ ॥
जीवो हि सोपयोगात्मा कर्ता भोक्ता तनुप्रमः।
स्वभावेनोर्ध्वगोऽमूर्तः संसारी सिद्धिनायकः ॥ ३३८ ॥
जीवितो दशभिः प्राणैर्जीविष्यति च जीवति।
स जीवः कथ्यते सद्भिर्जीवतत्वविदां वरैः ॥ ३३९ ॥
जन्तोर्भावो हि वस्त्वर्थ उपयोगः स च द्विधा।
साकारोऽनिराकारो ज्ञानदर्शनभेदतः[3] ॥ ३४० ॥
उपयोगो हि साकारो ज्ञानलक्षणलक्षितः।
स चाष्टधा भवेन्मिथ्यासम्यग्ज्ञानप्रभेदतः ॥ ३४१ ॥
कुमतिः कुश्रुतज्ञानं विभङ्गाख्योऽवधिस्तथा।
अज्ञानत्रितयं चेति मिथ्याकर्मफलोद्भवम् ॥ ३४२ ॥
मतिः श्रुतावधी स्वान्तः केवलं चेति पंचधाः।
सम्यग्ज्ञानं भवेत्तस्य वर्तनं स्वार्थगोचरम् ॥ ३४३ ॥
स्याद्दर्शनोपयोगस्तु चतुर्भेदमुपागतः।
निराकारो हि तस्यास्ति स्थितिरान्तर्मुहूर्तिकी ॥ ३४४ ॥

---

१ समाहितः ख.। २ नव. ख.। ३ अस्मादग्रे ज्ञानोपयोगः साकारः, दर्शनो-पयोगोऽनाकारः स चोपयोगलक्षणः पुस्तकद्वयेऽप्य पाठः।

चक्षुर्दर्शनमाद्यं स्यादचक्षुर्दर्शनं ततः ।
अवध्याख्यं च कैवल्यं चतुर्थेति प्रचक्ष्यते ॥ ३४५ ॥

अक्षैर्मनोवधिभ्यां वा विशिष्टवस्तुदर्शनम् ।
तद्दर्शनं भवेत्स्वात्मसंवित्तिः केवलं परम् ॥ ३४६ ॥

स्वयं कर्म करोत्युच्चैः शुभाशुभविकल्पतः ।
कर्ताऽसौ कथ्यते सद्भिर्व्यवहारनयाश्रयात् ॥ ३४७ ॥

तत्फलं च स्वयं भुंक्ते तस्माद्भोक्तेति भण्यते ।
प्रविस्तारोपसंहाराद्भवत्यङ्गी तनुप्रमः ॥ ३४८ ॥

स्वभावेनोर्ध्वगा शक्तिस्तस्माद्भवेत्तदात्मकः ।
वर्णादिभिर्विहीनत्वादमूर्तो जायते हि सः ॥ ३४९ ॥

पंचविधेऽत्र संसारे जीवः संसरति स्वयम् ।
तस्माद्भवति संसारी कृतकर्मप्रचोदितः ॥ ३५० ॥

प्राप्य द्रव्यादिसामग्रीं भस्मसात्कुरुते स्वयम् ।
कर्मेन्धनानि सर्वाणि तस्मात्सिद्ध इति स्मृतः ॥ ३५१ ॥

अवस्थाभेदतो जीवः पुनस्त्रेधा प्रचक्ष्यते ।
बहिरात्मान्तरात्मा च परमात्मेति तत्वतः ॥ ३५२ ॥

हेयोपादेयवैकल्यान्न च वेत्त्यहितं हितम् ।
निमग्नो विषयाक्षेषु बहिरात्मा विमूढधीः ॥ ३५३ ॥

अन्तरात्मा त्रिधा क्लिष्टमध्यमोत्कृष्टभेदतः ।
असंयतो जघन्यः स्यान्मध्यमौ द्वौ तदुत्तरौ ॥ ३५४ ॥

अप्रमत्तादयः सर्वे यावत्क्षीणकषायकाः ।
उत्तमा यतयः शान्ताः प्रभवन्त्युत्तरोत्तरम् ॥ ३५५ ॥

परमात्मा द्विधा सूत्रे सकलो निकलः स्मृतः ।
सकलो भण्यते सद्भिः केवली जिनसत्तमः ॥ ३५६ ॥
निष्कलो मुक्तिकान्तेशश्चिदानन्दैकलक्षणः ।
अनंतसुखसंतृप्तः कर्माष्टकविवर्जितः ॥ ३५७ ॥

जीवः[1] ।

वर्णमेकं रसं गन्धं स्पर्शयुग्मं च गाहते ।
पुद्गलाणुः परः प्रोक्तो गलनपूरणात्मकः ॥ ३५८ ॥
द्व्यणुकादिविभेदेन स्निग्धरूक्षत्वसंश्रयात् ।
बन्धोऽन्योन्यं भवेत्तेषां वृद्धिरूपादनेकधा ॥ ३५९ ॥
शब्दो बन्धस्तमश्छाया सूक्ष्मस्थौल्यातपद्युति ।
भेदसंस्थानमित्येते पर्यायास्तस्य कीर्तिताः ॥ ३६० ॥
पृथ्वी तोयं तथा च्छाया चाक्षुषो नाक्षगोचरः ।
कर्माणि परमाण्वन्तं तेषां सौक्ष्म्यं[2] यथोत्तरम् ॥ ३६१ ॥
स्थूलस्थूलं तथा स्थूलं स्थूलसूक्ष्मास्ततः परम् ।
सूक्ष्मस्थूलाश्च सूक्ष्माणि सूक्ष्मसूक्ष्मा इति क्रमात् ॥ ३६२ ॥

पुद्गलः ।

गतिहेतुर्भवेद्धर्मो जीवपुद्गलयोर्द्वयोः ।
यथोदकं हि मत्स्यानां सन्तिष्ठतोस्तथा न सः ॥ ३६३ ॥

धर्मः ।

अधर्मः स्थितिदानाय हेतुर्भवति तद्द्वयोः ।
पथिकानां यथा च्छाया गच्छतोः स न धारकः ॥६६४॥

---

१ अयं पाठः क-पुस्तके नास्ति । २ सूक्ष्मो. ख. ।

अधर्मः[1] ।

द्रव्याणामवगाहस्य योग्यं यत्तन्नभो भवेत् ।
लोकाकाशमलोकाख्यमाकाशमिति तद्द्विधा ॥ ३६५ ॥

आकाशः[2] ।

वर्णगन्धादिभिर्मुक्ता असंख्याताः सुनिश्चलाः ।
वर्तनालक्षणोपेता जीवपुद्गलयोः परम् ॥ ३६६ ॥
तिष्ठन्त्येकैकरूपेण लोकाकाशप्रदेशकान् ।
व्याप्य कालाणवो मुख्याः प्रत्येकं रत्नराशिवत् ॥ ३६७ ॥
परिणामः पदार्थानां कालास्तित्वप्रसादकः ।
अन्यथा नवजीर्णादिपर्यायज्ञानता कथम् ॥ ३६८ ॥
नोपचारो विना मुख्यं नरसिंहोपचारवत् ।
तथोपचारमाश्रित्य कालोऽस्ति व्यावहारिकः ॥ ३६९ ॥
मुख्यकालस्य पर्यायः समयादिस्वरूपवान् ।
व्यवहारो मतः कालः कालज्ञानप्रवेदिनाम् ॥ ३७० ॥
तं कालाणुं समुल्लंघ्य मंदं गच्छति पुद्गलः ।
यावता कालमात्रेण स कालः समयात्मकः ॥ ३७१ ॥
तस्मादावलिपूर्वा ये मुहूर्ताद्याश्च पर्ययाः ।
मर्त्यक्षेत्रे प्रवर्त्तन्ते भानोर्गतिवशाद्भुवि ॥ ३७२ ॥

कालः[3] ।

१–२–३ इमे शब्दाः क–पुस्तके न सन्ति ।

गुणपर्ययवद्द्रव्यसन्दोहो वर्ण्यते बुधैः ।
सप्तभंगीं समालिंग्य स्वान्यद्रव्यस्वभावतः ॥ ३७३ ॥
सहभूता गुणा ज्ञेयाः सुवर्णे पीतता यथा ।
क्रमभूतास्तु पर्यायाः जीवे गत्यादयो यथा ॥ ३७४ ॥
पर्यायाः प्रभवन्त्येते भेदद्वयसमाश्रिताः ।
अर्थव्यञ्जनभेदाभ्यां वदन्तीति महर्षयः ॥ ३७५ ॥
सूक्ष्मोऽवाग्गोचरो वेद्यः केवलज्ञानिनां स्वयम् ।
प्रतिक्षणं विनाशी स्यात् पर्यायो ह्यर्थसंज्ञिकः ॥ ३७६ ॥
स्थूलः कालान्तरस्थायी सामान्यज्ञानगोचरः ।
दृष्टिग्राह्यस्तु पर्यायो भवेद्व्यञ्जनसंज्ञकः ॥ ३७७ ॥
द्रव्याण्यनाद्यनन्तानि द्रव्यत्वेन भवन्त्यपि ।
ध्रौव्यव्ययसमुत्पत्तिस्वभावान्यखिलान्यपि ३७८ ॥
कालत्रयानुयायित्वं यद्रूपं वस्तुनो भवेत् ।
तद्ध्रौव्यत्वमिति प्राहुर्वृषभाद्या गणाधिपाः ॥ ३७९ ॥
पूर्वाकारान्यथाभावो विनाशो वस्तुनः पुनः ।
अपूर्वाकारसंप्राप्तिरुत्पत्तिरिति कीर्त्यते ॥ ३८० ॥
स्वभावेतरपर्याया जीवपुद्गलयोर्द्वयोः ।
विभावपर्यया न स्युः शेषद्रव्यचतुष्टये ॥ ३८१ ॥
कायत्वमस्ति पंचानां प्रदेशततिसंभवात् ।
नास्ति कालस्य कायत्वं प्रदेशतत्यसंभवात् ॥ ३८२ ॥
धर्माधर्मैकजीवानामसंख्येयप्रदेशता ।
पुद्गलानां त्रिधा देशा नभोऽनन्तप्रदेशकम् ॥ ३८३ ॥
जीवाजीवास्रवा बन्धसंवरौ निर्जरा तथा ।
मोक्षश्चेति सुतत्वानि सप्त स्युर्जैनशासने ॥ ३८४ ॥

चेतनालक्षणो जीवोऽमूर्तोऽनाद्यविनाशकः ।
अजीवः पंचधा ज्ञेयः पुद्गलादिप्रभेदतः ॥ ३८५ ॥

भावास्रवो भवेज्जीवो मिथ्यात्वादिचतुष्टयात् ।
ततो द्रव्यास्रवो योऽसौ कर्माष्टकसमाश्रयः ॥ ३८६ ॥

बध्यते कर्म भावेन येन तद्भावबन्धनम् ।
जीवकर्मप्रदेशानामाश्लेषो द्रव्यबन्धनम् ॥ ३८७ ॥

स प्रकृतिप्रदेशाख्यस्थित्यनुभागभेदभाक् ।
योगैर्द्वावादिमौ स्यातां कषायैर्द्वौ तदुत्तरौ ॥ ३८८ ॥

कर्मास्रवनिरोधात्मा चिद्भावो भावसंवरः ।
व्रताद्यैः कर्मसंरोधः स भवेद्द्रव्यसंवरः ॥ ३८९ ॥

हठात्कारस्वभावाभ्यां जायते कर्मनिर्जरा ।
अविपाका स्वपाकेति द्विविधा सा यथाक्रमम् ॥ ३९० ॥

कर्मक्षयाय यो भावो भावमोक्षो भवत्यसौ ।
जायते द्रव्यमोक्षस्तु जीवकर्मपृथक्क्रिया ॥ ३९१ ॥

इत्येवं सप्ततत्वानि तान्येव प्रभवन्त्यपि ।
युक्तानि पुण्यपापाभ्यां पदार्था नव संस्मृताः ॥ ३९२ ॥

पुरोक्तलक्षणः जीवः सम्यक्त्वव्रतभूषितः ।
पुण्यं तद्विपरीतो यः स पापमिति कीर्त्यते ॥ ३९३ ॥

एवं द्रव्यादिसन्दोहे श्रद्धानं यथार्थतः ।
अनादिकर्मसम्बन्धविच्छित्तौ जायतेऽङ्गिनाम् ॥ ३९४ ॥

चतुर्गतिभवो भव्यः संज्ञी पूर्णः सुलेश्यकः ।
जागरी लब्धिमान् शुद्धो ज्ञानी सम्यक्त्वमर्हति ॥ ३९५ ॥

वारणं तस्य चत्वारो ये चानन्तानुबन्धिनः ।
मिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वं चेति दृङ्मोहसप्तकम् ॥ ३९६ ॥

इत्यासां प्रकृतीनां तु सप्तानामुपशान्तितः ।
प्रोक्तौपशमिका दृष्टिः प्रशान्तपंकतोयवत् ॥ ३९७ ॥

सर्वघ्नस्पर्धकानां यः पाकाभावात्मकः क्षयः ।
सत्तात्मोपशमो यत्र क्षायोपशमिकं हि तत् ॥ ३९८ ॥

उदितास्ते क्षयं याताः स्पर्धकाः सर्वघातकाः ।
शेषाः प्रशमिताः सन्ति क्षायोपशमिकं ततः ॥ ३९९ ॥

यद्वेद्यते चलागाढमालिन्येन पृथक् पृथक् ।
सम्यक्त्वप्रकृतेः पाकात् तस्मात्तद्वेदकाव्हयम् ॥ ४०० ॥

एतत्संसारविच्छित्त्यै जायते देहिनां खलु ।
मौढ्यादिदोषनिर्मुक्तं निःशंकाद्यङ्गसंयुतम् ॥ ४०१ ॥

सूर्यार्घो वन्हिसत्कारो गोमूत्रस्य निषेवणम् ।
तत्पृष्ठान्तनमस्कारो भृगुपातादिसाधनम् ॥ ४०२ ॥

देहलीगेहरत्नाश्वगजशस्त्रादिपूजनम् ।
नदीह्रदसमुद्रेषु मज्जनं पुण्यहेतवे ॥ ४०३ ॥

संक्रान्तौ च तिलस्नानं दानं च ग्रहणादिषु ।
सन्ध्यायां मौनमित्यादि त्यज्यतां लोकमूढताम् ॥ ४०४ ॥

ऐहिकाशावशित्त्वेन कुत्सितो देवतागणः ।
पूज्यते भक्तितो वाढं सा देवमूढता मता ॥ ४०५ ॥

दृष्ट्वा मंत्रादिसामर्थ्यं पापिपाषण्डिचारिणाम् ।
उपास्तिः क्रियते तेषां सा स्यात्पापण्डिमूढता ॥ ४०६ ॥

ज्ञानं पूजा तपो वित्तं कुलं जातिर्बलं वपुः ।
एतानाश्रित्य गर्वित्वं तन्मदाष्टकमिष्यते ॥ ४०७ ॥
कुदेवः कुमतालम्बी कुशास्त्रं कुत्सितं तपः ।
कुशास्त्रज्ञः कुलिंगीति स्युरनायतनानि षट् ॥ ४०८ ॥
समीचीनमिदं रूपं कुदेवस्येति जल्पनम् ।
इत्यादिभावना भव्यैस्त्याज्यानायतनात्मिका ॥ ४०९ ॥
इदमेवेदृशं तत्वं जिनोक्तं तन्न चान्यथा ।
इत्यकम्पा[1] रुचिर्यासौ निःशंकाङ्गं[2] तदुच्यते ॥ ४१० ॥
संसारेन्द्रियभोगेषु सर्वेषु भंगुरात्मसु ।
निरीहभावना यत्र सा निष्कांक्षा स्मृता बुधैः ॥ ४११ ॥
स्वभावमलिने देहे रत्नत्रयपवित्रिते ।
जुगुप्सारहितो भावो सा स्यान्निर्विचिकित्सिता ॥४१२॥
दोषदृष्टेषु[3] शास्त्रेषु तपस्विदेवतादिषु ।
चित्तं न मुह्यते क्वापि तदमूढत्वं निगद्यते ॥ ४१३ ॥
रत्नत्रयोपयुक्तस्य जनस्य कस्यचित्कचित् ।
गोपनं प्राप्तदोषस्य तद्भवत्युपगूहनम् ॥ ४१४ ॥
दर्शनाज्ज्ञानतो[4] वृत्ताच्चलतां गृहमेधिनाम् ।
यतीनां स्थापनं तद्धत्स्थितीकरणमुच्यते ॥ ४१५ ॥
रोगार्दितश्रमार्तानां साधूनां गृहिणामपि ।
यथायोग्योपचारस्तद्वात्सल्यं धर्मकाम्यया ॥ ४१६ ॥
मिथ्यातमस्त्वपाकृत्य सद्धर्मोद्योतनं परम् ।
क्रियते शक्तितो बाढं सैषा प्रभावना मता ॥ ४१७ ॥

१ इत्यशंका. ख. २ निःशंकत्वं. । ३ दुष्टेषु. ख. । ४ दर्शनज्ञानतो ख. ।

एवमष्टांगसंयुक्तं सम्यक्त्वं स्याद्भवापहम्।
साधकः सर्वकार्येषु मंत्रः पूर्णाक्षरो यथा ॥ ४१८ ॥
दृग्मोहक्षयसंभूतौ यच्छ्रद्धानमनुत्तरं।
भवेत्तत्क्षायिकं नित्यं कर्मसंघातघातकम् ॥ ४१९ ॥
नानावाग्भिर्बहूपायैर्भीष्मरूपैश्च दुर्धरैः।
त्रिदशाद्यैर्न चाल्येत तत्सम्यक्त्वं कदाचन ॥ ४२० ॥
क्षायिकीदृक्क्रियारम्भी केवलिक्रमसन्निधौ।
कर्मक्ष्माजो[1] नरस्तत्र कश्चिन्निष्ठापको भवेत् ॥ ४२१ ॥
लब्धमृत्युर्नरः कश्चिद्बद्धायुष्कः प्रगच्छति।
यस्यां गतौ हि तत्रैव पूर्णतां कुरुते ध्रुवम् ॥ ४२२ ॥
इत्येकेनैव संयुक्तः स्याद्भव्योऽसंयमाव्हयः।
द्वितीयानां कषायाणामुदयादव्रतो हि सः ॥ ४२३ ॥
प्रशमास्तिक्यसंवेगाः सहानुकम्पया गुणाः।
विद्यन्ते हृदये यस्य स स्यात्सम्यक्त्वभूषितः ॥ ४२४ ॥
ततस्तु व्रतहीनोऽपि प्राणिघाताय नोद्यमी।
प्राणिघातनशीलः स्यात्सम्यक्त्वस्यातिदूरगः ॥ ४२५ ॥
काकतालीयकन्यायात् सम्यक्त्वं जा[3]तमात्रकम्।
जीवस्यानन्तसंसारं संख्यात्मिकां स्थितिं नयेत् ॥ ४२६ ॥
भावनादित्रिषु स्त्रीषु षट्स्वधःश्वभ्रभूमिषु।
अवस्थायामपूर्णायां न हि सम्यक्त्वसंभवः ॥ ४२७ ॥
यस्य सम्यक्त्वसम्भूतिरायुर्बन्धेऽथ दुर्गतौ।
गतिच्छेदो न तस्यास्ति तथाप्यल्पतरा स्थितिः ॥ ४२८ ॥

---

१ कर्मक्षमाण्यो इति पृथग्विभक्त्यन्तपदं ख–पुस्तके। २ अस्य स्थाने क्वचिदिति संभाव्यते। ३ याति. क.।

आयुर्बन्धे चतुर्गत्यां यदि सम्यक्त्वसंभवः ।
देवायुर्बन्धनं मुक्त्वा नाप्येतेऽणुमहाव्रते ॥ ४२९ ॥
क्षयोपशमसद्दृष्टिः पदं प्राप्नोति दुर्लभम् ।
सुदेवं स्वर्गलोकेषु मानुषं कर्मभूमिषु ॥ ४३० ॥
लब्ध्वा क्षायिकसम्यक्त्वमेकतृतीयतुर्यके ।
भवे मुक्तिं प्रयात्यङ्गी नास्त्यतोऽन्यभवाश्रयः ॥ ४३१ ॥
आर्त्तरौद्रं भवेद्ध्यानं तत्र मन्दत्वमागतम् ।
आर्त्तं चतुर्विधं प्रोक्तं रौद्रध्यानं च तद्विधम् ॥ ४३२ ॥
अनिष्टयोगसम्भूतिरिष्टार्थस्य वियोगता ।
अप्राप्तिरिच्छितार्थस्य चतुर्थं स्यान्निदानकम् ॥ ४३३ ॥
आर्त्तध्यानवशाज्जीवः करोत्यशुभबन्धनम् ।
बद्धायुष्को मृतिं लब्ध्वा तैरश्चीं गतिमश्नुते ॥ ४३४ ॥
हिंसानन्दो मृषानन्दः स्तेयानन्दस्तृतीयकः ।
तुर्यः संरक्षणानन्दो रौद्रध्यानस्य पर्ययाः ॥ ४३५ ॥
रौद्रध्यानेऽथ जीवेन कषायविषमोहिना ।
आद्यश्वभ्रावनौ जन्म बद्धायुष्केण लभ्यते ॥ ४३६ ॥
गौणवृत्त्या भवेत्तस्य धर्मध्यानं कथंचन ।
आप्तोपज्ञस्य शास्त्रस्य चिन्तनश्रवणात्मकम् ॥ ४३७ ॥

उक्तं च—

मनः सदर्थाधिगमे प्रवृत्तं वाक्पाठयोगे नयने च वर्णे ।
श्रुती श्रुतौ निश्चलविग्रहश्च ध्यानेऽपि चैकाग्र्यमिहापि सौम्यं ॥१॥

---

१ रीप्सितार्थस्य. ख. । २ ध्यानेन जीवेन. ख. । ३ आद्यः ख. । ४ धर्मध्यानस्य पर्ययः ख. । ५ शाम्यं ख. ।

असंयतो निजात्मानमेकवारं दिनं प्रति ।
ध्यायत्यनियतं कालं नो चेत्सम्यक्त्वदूरगः ॥ ४३८ ॥

उक्तं च प्रवचनतिलके—

अविरियसम्माइट्ठी णियमियवेलादियं ण कुव्वंतो ।
पडि पडि दिणमिगिवारं सो झायदि अप्पगं सुद्धं[1] ॥ १ ॥

ईदृशं भेदसम्यक्त्वं साधकं निश्चयात्मनः ।
निश्चयात्म्य निजात्मैव तत्साध्यं स्यान्मनीपिभिः ॥ ४३९ ॥
असंयतगुणस्थानं चतुर्थं प्रतिपादितम् ।
देशसंयमिनो धाम पंचमं कथ्यतेऽधुना ॥ ४४० ॥

इति चतुर्थमसंयतगुणस्थानम् ।

अतो देशव्रताभिख्ये गुणस्थाने हि पंचमे ।
भावास्त्रयोऽपि विद्यन्ते पूर्वोक्तलक्षणा इह ॥ ४४१ ॥
प्रत्याख्यानोदयाज्जीवो नो धत्तेऽखिलसंयमम् ।
तथापि देशसंत्यागात्संयतासंयतो मतः ॥ ४४२ ॥
विरतिस्त्रसघातस्य मनोवाक्काययोगतः ।
स्थावराङ्गिविघातस्य प्रवृत्तिस्तस्य कुत्रचित् ॥ ४४३ ॥

---

१ सुक्खं ख,. अस्या अग्रे इमे अस्पष्टे गाथे ख-पुस्तके । तथा चोक्तं दशवैकालिकग्रन्थे—

जो पुव्वरत्तवरत्तकाले संपिक्खई अप्पगमप्पणेणं ।
किमेकदं किच्चमकिच्चसेसं किं सक्काणिज्जं णुसयाणरामि ॥ १ ॥

किं मेसरो पस्सइ किं व अप्पा दोसागयं किं ण विवज्जयामि ।
इच्चेव सम्मं अणुपस्समाणो अण(णा)गयं णो पडिबंध कुज्जा ॥ २ ॥

विरताविरतस्तस्माद्भण्यते देशसंयमी ।
प्रतिमालक्षणास्तस्य भेदा एकादश स्मृताः ॥ ४४४ ॥
आद्यो दर्शनिकस्तत्र व्रतिकः स्यात्ततः परम्[1] ।
सामायिकव्रती चाथ सप्रोपधोपवासकृत् ॥ ४४५ ॥
सचित्ताहारसंत्यागी दिवास्त्रीभजनोज्झितः ।
ब्रह्मचारी निरारम्भः परिग्रहपरिच्युतः ॥ ४४६ ॥
तस्मादनुमतोद्दिष्टविरतौ द्वाविति क्रमात् ।
एकादशविकल्पाः स्युः श्रावकाणां क्रमादमी ॥ ४४७ ॥
गृही दर्शनिकस्तत्र सम्यक्त्वगुणभूषितः ।
संसारभोगनिर्विण्णो ज्ञानी जीवदयापरः ॥ ४४८ ॥
माक्षिकामिपमद्यं च सहोदुम्बरपंचकैः ।
वेश्या पराङ्गना चौर्यं द्यूतं नो भजते हि सः ॥ ४४९ ॥
दर्शनिकः प्रकुर्वीत निशि भोजनवर्जनम् ।
यतो नास्ति दयाधर्मो रात्रौ भुक्तिं प्रकुर्वतः ॥ ४५० ॥

दर्शनप्रतिमा ।

स्थूलहिंसानृतस्तेयपरस्त्री चाभि[2]कांक्षता ।
अणुव्रतानि पंचैव तत्त्यागात्स्यादणुव्रती ॥ ४५१ ॥
योगत्रयस्य सम्बन्धात्कृतानुमतकारितैः ।
न हिनस्ति त्रसान् स्थूलमहिंसाव्रतमादिमम् ॥ ४५२ ॥
न वदत्यनृतं स्थूलं न परान् वादयत्यपि ।
जीवपीडाकरं सत्यं द्वितीयं तदणुव्रतम् ॥ ४५३ ॥
अदत्तपरवित्तस्य निक्षिप्तविस्मृतादितः ।
तत्परित्यजनं स्थूलमचौर्यं व्रतमूचिरे ॥ ४५४ ॥

---

१ वरं. ख. । २ ति. ख. ।

मातृवत्परनारीणां परित्यागस्त्रिशुद्धितः ।
स स्यात्पराङ्गनात्यागो गृहिणां शुद्धचेतसाम् ॥ ४५५ ॥
धनधान्यादिवस्तूनां संख्यानं मुञ्चतां विना ।
तदणुव्रतमित्याहुः पंचमं गृहमेधिनाम् ॥ ४५६ ॥
शीलव्रतानि तस्येह गुणव्रतत्रयं यथा[1] ।
शिक्षाव्रतं चतुष्कं च सप्तैतानि विदुर्बुधाः ॥ ४५७ ॥
दिग्देशानर्थदण्डानां विरतिः क्रियते तथा ।
दिग्व्रतत्रयमित्याहुर्मुनयो व्रतधारिणः ॥ ४५८ ॥
कृत्वा संख्यानमाशायां ततो बहिर्न गम्यते ।
यावज्जीवं भवत्येतद्दिग्व्रतमादिमं व्रतम् ॥ ४५९ ॥
कृत्वा कालावधिं शक्त्या कियत्प्रदेशवर्जनम् ।
तद्देशविरतिर्नाम व्रतं द्वितीयकं विदुः ॥ ४६० ॥
खनित्रविषशस्त्रादेर्दानं स्याद्वधहेतुकम् ।
तत्त्यागोऽनर्थदण्डानां वर्जनं तत्तृतीयकम् ॥ ४६१ ॥
सामायिकं च प्रोषधविधिं च भोगोपभोगसंख्यानम् ।
अतिथीनां सत्कारो वा शिक्षाव्रतचतुष्कं स्यात् ॥ ४६२ ॥
सामायिकं प्रकुर्वीत कालत्रये दिनं प्रति ।
श्रावको[2] हि[3] जिनेन्द्रस्य जिनपूजापुरःसरम् ॥ ४६३ ॥
कः पूज्यः पूजकस्तत्र पूजा च कीदृशी मता ।
पूज्यः शतेन्द्रवन्द्यांह्रिर्निर्दोषः केवली जिनः ॥ ४६४ ॥
भव्यात्मा पूजकः शान्तो वेश्यादिव्यसनोज्झितः ।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः स शूद्रो[4] वा सुशीलवान्[5] ॥४६५॥

१ यथा ख. । २ श्रावकेण क. । ३ हीति नास्ति. क-पुस्तके । ४ 'सच्छूद्रो वा' इति सुभाति । ५ दृढव्रती ख. ।

उक्तं[1] च जिनसंहितायां—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः स शूद्रो वा सुशीलवान् ॥ [2] [3] ॥

अन्येषां नाधिकारित्वं ततस्तैः प्रविधीयताम् ।
जिनपूजां विना सर्वा दूरा सामायिकी क्रिया ॥ ४६६ ॥
जिनपूजा प्रकर्तव्या पूजाशास्त्रोदितक्रमात् ।
यया संप्राप्यते भव्यैर्मोक्षसौख्यं निरन्तरम् ॥ ४६७ ॥
तावत्प्रातः समुत्थाय जिनं स्मृत्वा विधीयताम् ।
प्राभातिको विधिः सर्वः शौचाचमनपूर्वकम् ॥ ४६८ ॥
ततः पौर्वाह्णिकीं सन्ध्याक्रियां समाचरेत्सुधीः ।
शुद्धक्षेत्रं समाश्रित्य मंत्रवच्छुद्धवारिणा ॥ ४६९ ॥
पश्चात् स्नानविधिं कृत्वा धौतवस्त्रपरिग्रहः ।
मंत्रस्नानं व्रतस्नानं कर्तव्यं मंत्रवत्ततः ॥ ४७० ॥
एवं स्नानत्रयं कृत्वा शुद्धित्रयसमन्वितः ।
जिनावासं विशेन्मंत्री समुच्चार्य निषेधिकाम् ॥ ४७१ ॥
कृत्वेर्यापथसंशुद्धिं जिनं स्तुत्वातिभक्तितः ।
उपविश्य जिनस्याग्रे कुर्याद्विधिमिमां पुरा ॥ ४७२ ॥
तत्रादौ शोषणं स्वांगे दहनं प्लावनं ततः ।
इत्येवं मंत्रविन्मंत्री स्वकीयाङ्गं पवित्रयेत् ॥ ४७३ ॥
हस्तशुद्धिं विधायाथ प्रकुर्याच्छकलीक्रियाम् ।
कूटबीजाक्षरैर्मंत्रैर्दशदिग्बंधनं ततः ॥ ४७४ ॥

१ उक्तं चार्धश्लोकेन जिनसंहितायां ख–पाठः। २ सच्छूद्रो वा इत्यनेन पाठे भाव्यं। ३ वि. ख.।

पूजापात्राणि सर्वाणि समीपीकृत्य सादरम्।
भूमिशुद्धिं विधायोच्चैर्दर्भाग्निज्वलनादिभिः ॥ ४७५ ॥
भूमिपूजां च निर्वृत्य ततस्तु नागतर्पणम्।
आग्नेयदिशि संस्थाप्य क्षेत्रपालं प्रतृप्य च ॥ ४७६ ॥
स्नानपीठं दृढं स्थाप्य प्रक्षाल्य शुद्धवारिणा।
श्रीवीजं च विलिख्यात्र गन्धाद्यैस्तत्प्रपूजयेत् ॥ ४७७ ॥
परितः स्नानपीठस्य मुखार्पितसपल्लवान्।
पूरितांस्तीर्थसत्तोयैः कलशांश्चतुरो न्यसेत् ॥ ४७८ ॥
जिनेश्वरं समभ्यर्च्य मूलपीठोपरिस्थितम्।
कृत्वाव्हानविधिं सम्यक् प्रापयेत्स्नानपीठिकाम् ॥ ४७९ ॥
कुर्यात्संस्थापनं तत्र सन्निधानविधानकम्।
नीराजनैश्च निर्वृत्य जलगन्धादिभिर्यजेत् ॥ ४८० ॥
इन्द्राद्यष्टदिशापालान् दिशाष्टसु निशापतिम्।
रक्षोवरुणयोर्मध्ये शेषमीशानशक्रयोः ॥ ४८१ ॥
न्यस्याव्हानादिकं कृत्वा क्रमेणैतान् मुदं नयेत्।
वलिप्रदानतः सर्वान् स्वस्वमंत्रैर्यथादिशम् ॥ ४८२ ॥
ततः कुम्भं समुद्धार्य तोयचोचेक्षुसद्रसैः।
सद्घृतैश्च ततो दुग्धैर्दधिभिः स्नापयेज्जिनम् ॥ ४८३ ॥
तोयैः प्रक्षाल्य सच्चूर्णैः कुर्यादुद्वर्त्तनक्रियाम्।
पुनर्नीराजनं कृत्वा स्नानं कषायवारिभिः ॥ ४८४ ॥
चतुष्कोणस्थितैः कुम्भैस्ततो गन्धाम्वुपूरितैः।
अभिषेकं प्रकुर्वीरन् जिनेशस्य सुखार्थिनः ॥ ४८५ ॥

---

१ कं. क.।

स्वोत्तमाङ्गं प्रसिंच्याथ जिनाभिषेकवारिणा ।
जलगन्धादिभिः पश्चादर्चयेद्विम्बमर्हतः ॥ ४८६ ॥
स्तुत्वा जिनं विसर्ज्यापि दिगीशादिमरुद्गणान् ।
आर्चिते मूलपीठेऽथ स्थापयेज्जिननायकम् ॥ ४८७ ॥
तोयैः कर्मरजःशान्त्यै गन्धैः सौगन्धसिद्धये ।
अक्षतैरक्षयावाप्त्यै पुष्पैः पुष्पशरच्छिदे ॥ ४८८ ॥
चरुभिः सुखसंवृद्ध्यै देहदीप्त्यै प्रदीपकैः ।
सौभाग्यावाप्तये धूपैः फलैर्मोक्षफलाप्तये ॥ ४८९ ॥
घण्टाद्यैर्मंगलद्रव्यैर्मंगलावाप्तिहेतवे ।
पुष्पाञ्जलिप्रदानेन पुष्पदन्ताभिदीप्तये ॥ ४९० ॥
तिसृभिः शान्तिधाराभिः शान्तये सर्वकर्मणाम् ।
आराधयेज्जिनाधीशं मुक्तिश्रीवनितापतिम् ॥ ४९१ ॥
इत्येकादशधा पूजां ये कुर्वन्ति जिनेशिनाम् ।
अष्टौ कर्माणि सन्दह्य प्रयान्ति परमं पदम् ॥ ४९२ ॥
अष्टोत्तरशतैः पुष्पैः जापं कुर्याज्जिनाग्रतः ।
पूज्यैः पंचनमस्कारैर्यथावकाशमञ्जसा ॥ ४९३ ॥
अथवा सिद्धचक्राख्यं यंत्रमुद्धार्य तत्त्वतः ।
सत्पचपरमेष्ठ्याख्यं गणभृद्वलयक्रमम् ॥ ४९४ ॥
यंत्रं चिन्तामणिर्नाम सम्यग्शास्त्रोपदेशतः ।
संपूज्यात्र जपं कुर्यात् तत्तन्मंत्रैर्यथाक्रमम् ॥ ४९५ ॥
तद्यंत्रगन्धतो भाले विरचय्य विशेषकम् ।
सिद्धशेषां प्रसंगृह्य न्यसेन्मूर्ध्नि समाहितः ॥ ४९६ ॥
चैत्यभक्त्यादिभिः स्तूयाज्जिनेन्द्रं भक्तिनिर्भरः ।
कृतकृत्यं स्वमात्मानं मन्यमानोऽद्य जन्मनि ॥४ ९७ ॥

संक्षेपस्नानशास्त्रोक्तविधिना चाभिषिंच्य[1] तम् ।
कुर्यादष्टविधां पूजां तोयगन्धाक्षतादिभिः[3] ॥ ४९८ ॥
अन्तर्मुहूर्तमात्रं तु ध्यायेत् स्वस्थेन चेतसा ।
स्वदेहस्थं निजात्मानं चिदानन्दैकलक्षणम्[4] ॥ ४९९ ॥
विधायैवं जिनेशस्य यथावकाशतोऽर्चनम् ।
समुत्थाय पुनः स्तुत्वा जिनचैत्यालयं व्रजेत् ॥ ५०० ॥
कृत्वा पूजां नमस्कृत्य देवदेवं जिनेश्वरम् ।
श्रुतं संपूज्य सद्भक्त्या तोयगन्धाक्षतादिभिः ॥ ५०१ ॥
संपूज्य[6] चरणौ साधोर्नमस्कृत्य यथाविधिम् ।
आर्याणामार्यिकाणां च कृत्वा विनयमंजसा ॥ ५०२ ॥
इच्छाकारवचः कृत्वा मिथः साधर्मिकैः समम् ।
उपविश्य गुरोरन्ते सद्धर्मं शृणुयाद्बुधः ॥ ५०३ ॥
देयं दानं यथाशक्त्या जैनदर्शनवर्तिनाम् ।
कृपादानं च कर्तव्यं दयागुणविवृद्धये ॥ ५०४ ॥
एवं सामायिकं सम्यग्यः करोति गृहाश्रमी ।
दिनैः कतिपयैरेव स स्यान्मुक्तिश्रियः पतिः ॥ ५०५ ॥
मासं प्रति चतुर्ष्वेव पर्वस्वाहारवर्जनम् ।
सकृद्भोजनसेवा वा कांजिकाहारसेवनम् ॥ ५०६ ॥
एवं शक्त्यनुसारेण क्रियते समभावतः ।
स प्रोपधो विधिः प्रोक्तो मुनिभिर्धर्मवत्सलैः ॥ ५०७ ॥

---

१ वा ख. । २ च ख. । ३ श्लोकोऽयं. ४९९ श्लोकादुत्तरं। ४ श्लोकोयं ४९८ श्लोकात्पूर्वं ख–पुस्तके । ५ सद्भव्यः ख. । ६ श्लोकोऽयं. ख. पुस्तके नास्ति ।

भुक्त्वा संत्यज्यते वस्तु स भोगः परिकीर्त्यते[1] ।
उपभोगोऽसकृद्वारं भुज्यते च तयोर्मितिः ॥ ५०८ ॥
संविभागोऽतिथीनां यः किंचिद्विशिष्यते हि सः ।
न विद्यते तिथिर्यस्य सोऽतिथिः पात्रतां गतः ॥ ५०९ ॥
अधिकाराः स्युश्चत्वारः संविभागे यतीशिनाम् ।
कथ्यमाना भवन्त्येते दाता पात्रं विधिः फलम् ॥ ५१० ॥
दाता शान्तो विशुद्धात्मा मनोवाक्कायकर्मसु ।
दक्षस्त्यागी विनीतश्च प्रभुः षड्गुणभूषितः ॥ ५११ ॥
ज्ञानं[2] भक्तिः क्षमा तुष्टिः सत्वं च लोभवर्जनम् ।
गुणा दातुः प्रजायन्ते षडेते पुण्यसाधने ॥ ५१२ ॥
पात्रं त्रिविधं प्रोक्तं सत्पात्रं च कुपात्रकम् ।
अपात्रं चेति तन्मध्ये तावत्पात्रं प्रकथ्यते ॥ ५१३ ॥
उत्कृष्टमध्यमक्लिष्टभेदात् पात्रं त्रिधा स्मृतम् ।
तत्रोत्तमं भवेत्पात्रं सर्वसंगोज्झितो[3] यतिः ॥ ५१४ ॥
मध्यमं पात्रमुद्दिष्टं मुनिभिर्देशसंयमी ।
जघन्यं प्रभवेत्पात्रं सम्यग्दृष्टिरसंयतः ॥ ५१५ ॥
रत्नत्रयोज्झितो देही करोति कुत्सितं तपः ।
ज्ञेयं तत्कुत्सितं पात्रं मिथ्याभावसमाश्रयात् ॥ ५१६ ॥
न व्रतं दर्शनं शुद्धं न चास्ति नियतं मनः ।
यस्य चास्ति क्रिया दुष्टा तदपात्रं बुधैः स्मृतम् ॥ ५१७ ।

१ परिमाणं । २ विज्ञः. ख. । ३ सम्यग्दृष्टिमहामुनिः ख. ।

मुक्त्वात्र कुत्सितं पात्रमपात्रं च विशेषतः ।
पात्रदानविधिस्तत्र[1] प्रकथ्यते यथाक्रमम् ॥ ५१८ ॥
स्थापनमासनं योग्यं चरणक्षालनार्चने ।
नतिस्त्रियोगशुद्धिश्च नवम्याहारशुद्धिता ॥ ५१९ ॥
नवविधं विधिः प्रोक्तः पात्रदाने मुनीश्वरैः ।
तथा षोडशभिर्दोषैरुद्गमाद्यैर्विवर्जितः ॥ ५२० ॥
उद्दिष्टं विक्रयानीतमुद्धारस्वीकृतं तथा ।
परिवर्त्य समानीतं देशान्तरात्समागतम् ॥ ५२१ ॥
अप्रासुकेन सम्मिश्रं भुक्तिभाजनमिश्रता ।
अधिकापाकसंवृद्धिर्मुनिवृन्दे समागते ॥ ५२२ ॥
समीपीकरणं पंक्तौ संयतासंयतात्मनाम् ।
पाकभाजनतोऽन्यत्र निक्षिप्यानयनं तथा ॥ ५२३ ॥
निर्वापितं समुत्क्षिप्य दुग्धमण्डादिकं च यत् ।
नीचजात्यार्पितार्थं च प्रतिहस्तात्समर्पितम् ॥ ५२४ ॥
यक्षादिवलिशेषं च आनीय चोर्ध्वसद्मनि ।
ग्रन्थिमुद्भिद्य यद्दत्तं कालातिक्रमतोऽर्पितम् ॥ ५२५ ॥
राजादीनां भयाद्दत्तमित्येषा दोषसंहतिः ।
वर्जनीया प्रयत्नेन पुण्यसाधनसिद्धये ॥ ५२६ ॥
आहारं भक्तितो दत्तं दात्रा योग्यं यथाविधि ।
स्वीकर्तव्यं विशोध्यैतद्वीतरागयतीशिना ॥ ५२७ ॥
योग्यकालागतं पात्रं मध्यमं वा जघन्यकम् ।
यथावत्प्रतिपत्त्या च दानं तस्मै प्रदीयताम् ॥ ५२८ ॥

१ सूत्रे क. ।

यदि पात्रमलब्धं चेदेवं निन्दां करोत्यसौ ।
वासरोऽयं वृथा यातः पात्रदानं विना मम ॥ ५२९ ॥
इत्येवं पात्रदानं यो विदधाति गृहाश्रमी ।
देवेन्द्राणां नरेन्द्राणां पदं संप्राप्य सिद्ध्यति ॥ ५३० ॥
अणुव्रतानि पंचैव सप्तशीलगुणैः सह ।
प्रपालयति निःशल्यः भवेद्व्रतिको गृही ॥ ५३१ ॥

व्रतप्रतिमा ।

चतुस्त्र्यावर्तसंयुक्तश्चतुर्नमस्क्रिया सह । ?
द्विनिपद्यो यथाजातो मनोवाक्कायशुद्धिमान् ॥ ५३२ ॥
चैत्यभक्त्यादिभिः स्तूयाज्जिनं सन्ध्यात्रये[1]ऽपि च ।
कालातिक्रमणं मुक्त्वा स स्यात्सामायिकव्रती ॥ ५३३ ॥

सामायिकप्रतिमा ।

मासं प्रत्यष्टमीमुख्यचतुष्पर्वदिनेष्वपि ।
चतुरभ्यवहार्याणां विदधाति विसर्जनम् ॥ ५३४ ॥
पूर्वापरदिने चैकाभुक्तिस्तदुत्तमं विदुः ।
मध्यमं तद्विना क्लिष्टं यत्राम्बु सेव्यते क्वचित् ॥ ५३५ ॥
इत्येकमुपवासं यो विदधाति स्वशक्तितः ।
श्रावकेषु भवेत्तुर्यः प्रोषधोऽनशनव्रती ॥ ५३६ ॥

प्रोषधप्रतिमा ।

---

१ सन्ध्यात्रयेष्वपि. ख. ।

फलमूलाम्बुपत्राद्यं नाश्नात्यप्रासुकं सदा ।
सचित्तविरतो गेही[1] दयामूर्तिर्भवत्यसौ ॥ ५३७ ॥

सचित्तप्रतिमा ।

मनोवाक्कायसंशुद्ध्या[2] दिवा नो भजतेऽङ्गनाम् ।
भण्यतेऽसौ दिवाब्रह्मचारीति ब्रह्मवेदिभिः ॥ ५३८ ॥

रात्रौ भुक्तिप्रतिमा ।

स्त्रीयोनिस्थानसंभूतजीवघातभयादसौ ।
स्त्रियं नो रमते त्रेधा ब्रह्मचारी भवत्यतः ॥ ५३९ ॥

ब्रह्मचर्यप्रतिमा ।

यः[3] सेवाकृपिवाणिज्यव्यापरत्यजनं भजेत् ।
प्राण्यभिघातसंत्यागादारम्भविरतो भवेत् ॥ ५४० ॥

आरंभरहितप्रतिमा ।

दशधा ग्रन्थमुत्सृज्य निर्ममत्वं भजेन्[5] सदा ।
सन्तोषामृतसंतृप्तः स स्यात्परिग्रहोज्झितः ॥ ५४१ ॥

अपरिग्रहप्रतिमा ।

ददात्यनुमतिं नैव सर्वेष्वैहिककर्मसु ।
भवत्यनुमतत्यागी देशसंयमिनां वरः ॥ ५४२ ॥

---

१ योगी । २ ततो वाङ्का. ख. । ३ यत्. ख. । ४ प्रणाभिघात. ख. ।
५ भजेत्. ख. ।

अनुमतत्यागप्रतिमा ।

नोद्दिष्टां सेवते भिक्षामुद्दिष्टविरतो गृही ।
द्वेधैको ग्रन्थसंयुक्तस्त्वन्यः कौपीनधारकः ॥ ५४३ ॥
आद्यो विदधते (ति) क्षौरं प्रावृणोत्येकवाससम् ।
पंचभिक्षासनं भुंक्ते पठते गुरुसन्निधौ ॥ ५४४ ॥
अन्यः कौपीनसंयुक्तः कुरुते केशलुञ्चनम् ।
शौचोपकरणं पिच्छं मुक्त्वान्यग्रन्थवर्जितः ५४५ ॥
मुनीनामनुमार्गेण चर्यायै सुप्रगच्छति ।
उपविश्य चरेद्भिक्षां करपात्रेऽङ्गसंवृतः ॥ ५४६ ॥
नास्ति त्रिकालयोगोऽस्य प्रतिमा चार्कसम्मुखा ।
रहस्यग्रन्थसिद्धान्तश्रवणे नाधिकारिता ॥ ५४७ ॥
वीरचर्या न तस्यास्ति वस्त्रखण्डपरिग्रहात् ।
एवमेकादशो गेही सोत्कृष्टः प्रभवत्यसौ ॥ ५४८ ॥

उद्दिष्टत्यागप्रतिमा ।

स्थानेष्वेकादशस्वेवं स्वगुणाः पूर्वसद्गुणैः ।
संयुक्ताः प्रभवन्त्येते श्रावकाणां यथाक्रमम् ॥ ५४९ ॥
आर्त्तरौद्रं भवेद्ध्यानं मन्दभावसमाश्रितम् ।
मुख्यं धर्म्यं न तस्यास्ति गृहव्यापरसंश्रयात् ॥ ५५० ॥
गौणं हि धर्मसद्ध्यानमुत्कृष्टं गृहमेधिनः ।
भद्रध्यानात्मकं धर्म्यं शेषाणां गृहचारिणाम् ॥ ५५१ ॥

---

१ द्वावेको. ख. । २ सोऽवगच्छति ।

जिनेज्यापात्रदानादिस्तत्र कालोचितो विधिः ।
भद्रध्यानं स्मृतं तद्धि गृहधर्माश्रयाद्बुधैः ॥ ५५२ ॥
पूजा दानं गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः ।
आवश्यकानि कर्माणि षडेतानि गृहाश्रमे ॥ ५५३ ॥
नित्या चतुर्मुखाख्या च कल्पद्रुमाभिधानका ।
भवत्याष्टान्हिकी पूजा दिव्यध्वजेति पंचधा ॥ ५५४ ॥ ॥
स्वगेहे चैत्यगेहे वा जिनेन्द्रस्य महामहः ।
निर्माप्यते यथाम्नायं नित्यपूजा भवत्यसौ ॥ ५५५ ॥

नित्या ।

नृपैर्मुकुटबद्धाद्यैः सन्मंडपे चतुर्मुखे ।
विधीयते महापूजा स स्याच्चतुर्मुखो महः ॥ ५५६ ॥

चतुर्मुखा ।

कल्पद्रुमैरिवाशेषजगदाशा प्रपूर्यते ।
चक्रिभिर्यत्र पूजायां सा स्यात्कल्पद्रुमाभिधा ॥ ५५७ ॥

कल्पद्रुमा ।

नन्दीश्वरेषु देवेन्द्रैर्द्वीपे नन्दीश्वरे महः ।
दिनाष्टकं विधीयेत सा पूजाष्टान्हिकी मता ॥ ५५८ ॥

अष्टान्हिकी ।

अकृत्रिमेषु चैत्येषु कल्याणेषु च पंचसु ।
सुरैर्विनिर्मिता पूजा भवेत्सेन्द्रध्वजात्मिका ॥ ५५९ ॥

इन्द्रध्वजा ।

महोत्सवमिति प्रीत्या प्रपंचयति पंचधा ।
स स्यान्मुक्तिवधूनेत्रप्रेमपात्रं पुमानिह ॥ ५६० ॥

पूजा ।

दानमाहारभैषज्यशास्त्राभयविकल्पतः ।
चतुर्धा तत्पृथक् त्रेधा त्रिधापात्रसमाश्रयात् ॥ ५६१ ॥
एषणाशुद्धितो दानं त्रिधा पात्रे प्रदीयते ।
भवत्याहारदानं तत्सर्वदानेषु चोत्तमम् ॥ ५६२ ॥
आहारदानमेकं हि दीयते येन देहिना ।
सर्वाणि तेन दानानि भवन्ति विहितानि वै ॥ ५६३ ॥
नास्ति क्षुधासमो व्याधिर्भेषजं वास्य शान्तये ।
अन्नमेवेति मन्तव्यं तस्मात्तदेव भेषजम् ॥ ५६४ ॥
विनाहारैर्बलं नास्ति जायते नो बलं विना ।
सच्छास्त्राध्ययनं तस्मात्तद्दानं स्यात्तदात्मकम् ॥ ५६५ ॥
अभयं प्राणसंरक्षा बुभुक्षा प्राणहारिणी ।
क्षुन्निवारणमन्नं स्यादन्नमेवाभयं ततः ॥ ५६६ ॥

---

१ सुरेन्द्रैर्निर्मिता. ख. । २ तस्य. ख. ।

अन्नस्या[1]हारदानस्य तृप्तिभाजां[2] शरीरिणाम् ।
रत्नभूस्वर्णदानानि[3] कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ ५६७ ॥
सद्दृष्टिः पात्रदानेन लभते नाकिनां पदम् ।
ततो नरेन्द्रतां प्राप्य लभते पदमक्षयम् ॥ ५६८ ॥
संसाराब्धौ महाभीमे दुःखकल्लोलसंकुले ।
तारकं पात्रमुत्कृष्टमनायासेन देहिनाम् ॥ ५६९ ॥
सत्पात्रं तारयत्युच्चैः स्वदातारं भवार्णवे ।
यानपात्रं समीचीनं तारयत्यम्बुधौ यथा ॥ ५७० ॥
भद्रमिथ्यादृशो जीवा उत्कृष्टपात्रदानतः ।
उत्पद्य भुंजते भोगानुत्कृष्टभोगभूतले ॥ ५७१ ॥
ते चार्पितप्रदानेन मध्यमाधमपात्रयोः ।
मध्यमाधमभोगेभ्यो लभन्ते जीवितं महत्[4] ॥ ५७२ ॥
मधुवाद्याङ्गदीपाङ्गा वस्त्रभाजनमाल्यदाः ।
ज्योतिर्भूषागृहाङ्गाश्च दशधा कल्पपादपाः ॥ ५७३ ॥
पुण्योपचितमाहारं मनोज्ञं कल्पितं यथा ।
लभन्ते कल्पवृक्षेभ्यस्तत्रत्या देहधारिणः ॥ ५७४ ॥
दानं हि वामदृग्वीक्ष्य कुपात्राय प्रयच्छति ।
उत्पद्यते कुदेवेषु तिर्यक्षु कुनरेष्वपि ॥ ५७५ ॥
मानुषोत्तरबाह्ये ह्यसंख्यद्वीपवार्धिषु ।
तिर्यक्त्वं लभते नूनं देही कुपात्रदानतः ॥ ५७६ ॥
निन्द्यासु[5] भोगभूमीषु पल्यप्रमितजीविनः ।
नग्नाश्च विकृताकारा भवन्ति वामदृष्टयः ॥ ५७७ ॥

१ अस्यान्नाहारदानस्य. ख. । २ भाज खः। ३ दानादि कलां नार्हति । ४ सदा। ५७२–५७३ श्लोकौ पूर्वापरीभूतौ. ख–पुस्तके। ५ निन्द्याः कुभोगभूमीषु. ख. ।

लवणाब्धेस्तटं त्यक्त्वा शतर्मी पंचयोजनीम् ।
दिग्विदिक्षु चतसृषु पृथक्कुभोगभूमयः ॥ ५७८ ॥
सैकोरुकाः सशृङ्गाश्च लांगुलिनश्च शृक्तिनः ।
चतुर्दिक्षु वसन्त्येते पूर्वादिक्रमतो यथा ॥ ५७९ ॥
विदिक्षु शशकर्णाख्याः सन्ति सष्कुलिकर्णिनः ।
कर्णप्रावरणाश्चैव लम्बकर्णाः कुमानुषाः ॥ ५८० ॥
शतानि पंच सार्धानि सन्त्यज्य वारिधेस्तटम् ।
अन्तरस्थदिशास्वष्टौ कुत्सिता भोगभूमयः ॥ ५८१ ॥
सिंहाश्च महिषोलूकव्याघ्रशूकरगोमुखाः ।
कपिवक्त्रा भवन्त्यष्टौ दिशानामन्तरे स्थिताः ॥ ५८२ ॥
वेधायाः षट्छतीं त्यक्त्वा द्वौ द्वावुभयोर्दिशोः ।
हिमाद्रिविजयार्धाद्रितारादिशिखर्यद्रिषु ५८३ ॥
हिमवद्विजयार्धस्य पूर्वापरविभागयोः ।
मत्स्यकालमुखा मेघविद्युन्मुखाश्च मानवाः ॥ ५८४ ॥
विजयार्धशिखर्यद्रिपार्श्वयोरुभयोरपि ।
हस्त्यादर्शमुखामेषमण्डलाननसन्निभाः ॥ ५८५ ॥
चतुर्विंशतिसंख्याका भवन्ति सिलिला इमाः ।
तावन्त्यो धातकीखण्डनिकटे लवणार्णवे ॥ ५८६ ॥
एवं स्युद्र्व्यूनपंचाशल्लवणाब्धितटद्वयोः ।
कालोदजलधौ तद्वद्द्वीपाः षण्णवतिः स्मृताः ॥ ५८७ ॥
एकोरुका गुहावासाः स्वादुमृन्मयभोजनाः ।
शेषास्तरुतलावासाः पत्रपुष्पफलाशिनः ॥ ५८८ ॥

न जातु विद्यते येषां कृतदोषनिकृंतनम् ।
उत्पादोऽत्र भवेत्तेषां कषायवशगात्मनाम् ॥ ५८९ ॥

त्रिकलं[1]—

सूतकाशुचिदुर्भावव्याकुलादिम(त्व)संयुताः[2] ।
पात्रे दानं प्रकुर्वन्ति मूढा वा गर्विताशयाः ॥ ५९० ॥
पंचाग्निना तपोनिष्ठा मौनहीनं च भोजनम् ।
प्रीतिश्चान्यविवादेषु व्यसनेष्वतितीव्रता ॥ ५९१ ॥
दानं च कुत्सिते पात्रे येषां प्रवर्तते सदा ।
तेषां प्रजायते जन्म क्षेत्रेष्वेतेषु निश्चितम् ॥ ५९२ ॥
उत्पद्यन्ते ततो मृत्वा भावनादिसुरत्रये ।
मन्दकषायसद्भावात् स्वभावार्जवभावतः ॥ ५९३ ॥
मिथ्यात्वभावनायोगात्ततश्च्युत्वा भवार्णवे ।
वराकाः सम्पतन्त्येव जन्मनक्रकुलाकुले ॥ ५९४ ॥
अपात्रे विहितं दानं यत्नेनापि चतुर्विधम् ।
व्यर्थीभवति तत्सर्वं भस्मन्याज्याहुतिर्यथा ॥ ५९५ ॥
अब्धौ निमज्जयत्याशु स्वमन्यान्नौर्दृषन्मयी ।
संसाराब्धावपात्रं तु तादृशं विद्धि सन्मते ! ॥ ५९६ ॥
पात्रे दानं प्रकर्तव्यं ज्ञात्वैवं शुद्धदृष्टिभिः ।
यस्मात्सम्पद्यते सौख्यं दुर्लभं त्रिदशेशिनाम् ॥ ५९७ ॥

दानम् ।

---

१ क-पुस्तके अस्मात् ५८९ श्लोकात्पूर्वं द्विकलमिति पाठः । ख-पुस्तके तु ५९० श्लोकात्पूर्वं त्रिकलमिति । २ वक्रतादिमसंयुताः ख-पाठः ।

क्रियते गन्धपुष्पाद्यैर्गुरुपादाब्जपूजनम् ।
पादसंवाहनाद्यं च गुरूपास्तिर्भवत्यसौ ५९८ ॥

गुरूपास्तिः ।

चतुर्णामनुयोगानां जिनोक्तानां यथार्थतः ।
अध्यापनमधीतिर्वा स्वाध्यायः कथ्यते हि सः ॥ ५९९ ॥

स्वाध्यायः ।

प्राणिनां रक्षणं त्रेधा तथाक्षप्रसराहतिः ।
एकोद्देशमिति प्राहुः संयमं गृहमेधिनाम् ॥ ६०० ॥

संयमम् ।

उपवासः सकृद्भुक्तिः सौवीराहारसेवनम् ।
इत्येवमाद्यमुद्दिष्टं साधुभिर्गृहिणां तपः ॥ ६०१ ॥

तपः ।

कर्माण्यावश्यकान्याहुः षडेवं गृहचारिणाम् ।
अधःकर्मा[1]दिसम्पातदोषविच्छित्तिहेतवे ॥ ६०२ ॥
षट्कर्मभिः किमस्माकं पुण्यसाधनकारणैः ।
पुण्यात्प्रजायते बन्धो बंधात्संसारता यतः ॥ ६०३ ॥
निजात्मानं निराल[2]म्बध्यानयोगेन चिंत्यते ।
येनेह बन्धविच्छेदं कृत्वा मुक्तिं प्रगम्यते ॥ ६०४ ॥
ये वदन्ति गृहस्थानामस्ति ध्यानं निराश्रयम् ।
जैनागमं न जानन्ति दुर्धियस्ते स्ववंचकाः ॥ ६०५ ॥

---

१ आधाकर्मादिसंजात. ख. । २ निरालम्बं क. ।

निरालंबं तु यद्ध्यानमप्रमत्तयतीशिनाम् ।
बहिर्व्यापारमुक्तानां निर्ग्रन्थजिनलिंगिनाम् ॥ ६०६ ॥
गृहव्यापारयुक्तस्य मुख्यत्वेनेह दुर्घटम् ।
निर्विकल्पचिदानन्दं निजात्मचिन्तनं परम् ॥ ६०७ ॥
गृहव्यापारयुक्तेन शुद्धात्मा चिन्त्यते यदा ।
प्रस्फुरन्ति तदा सर्वे व्यापारा नित्यभाविताः ॥ ६०८ ॥
अथ चेन्निश्चलं ध्यानं विधातुं यः समीहते ।
ढिंकुलीसन्निभं तद्धि जायते तस्य देहिनः ॥ ६०९ ॥
पुण्यहेतुं परित्यज्य शुद्धध्याने प्रवर्तते ।
तत्र नास्त्यधिकारित्वं ततोऽसावुभयोज्झितः ॥ ६१० ॥
त्यक्तपुण्यस्य जीवस्य पापास्रवो भवेद्ध्रुवम् ।
पापबन्धो भवेत्तस्मात् पापबन्धाच्च दुर्गतिः ॥ ६११ ॥
पुण्यहेतुस्ततो भव्यैः प्रकर्तव्यो मनीषिभिः ।
यस्मात्प्रगम्यते स्वर्गमायुर्बन्धोज्झितैर्जनैः ॥ ६१२ ॥
तत्रानुभूय सत्सौख्यं सर्वाक्षार्थप्रसाधकम् ।
ततश्च्युत्वा कर्मभूमौ नरेन्द्रत्वं प्रपद्यते ॥ ६१३ ॥
लक्षाश्चतुरशीतिः स्युरष्टादश च कोटयः ।
लक्षं चतुःसहस्रोनं गजाश्वान्तःपुराणि च ॥ ६१४ ॥
निधयो नव रत्नानि प्रभवन्ति चतुर्दश ।
षट्खण्डभरतेशित्वं चक्रिणां स्युर्विभूतयः ॥ ६१५ ॥
जरत्तृणमिवाशेषां संत्यज्य राज्यसम्पदम्[३] ।
अत्युत्कृष्टतपोलक्ष्मीमेवं आप्नोति शुद्धदृक् ॥ ६१६ ॥

१ ल्पं. ख. । २ तत् ख. । ३ दां. क. । ४ लक्ष्म्या एवं ख. ।

भस्मसात्कुरुते तस्माद्घातिकर्मेन्धनोत्करम् ।
संप्राप्यार्हन्त्यसल्लक्ष्मीं मोक्षलक्ष्मीपतिर्भवेत् ॥ ६१७ ॥
ईदृग्विधं पदं भव्यः सर्वं पुण्यादवाप्यते ।
तस्मात्पुण्यं प्रकर्तव्यं यत्नतो मोक्षकांक्षिणा ॥ ६१८ ॥
एवं संक्षेपतः प्रोक्तं यथोक्तं पूर्वसूरिभिः ।
देशसंयमसम्बन्धिगुणस्थानं हि पंचमम् ॥ ६१९ ॥

इति पंचमं विरताविरतसंज्ञं गुणस्थानम् ।

अतो वक्ष्ये गुणस्थानं प्रमत्तसंयताव्हयम् ।
तत्रौपशमिकाद्याः स्युस्त्रयो भावा यथोदिताः ॥ ६२० ॥
कषायाणां चतुर्थानां तीव्रपाके महाव्रती ।
भवेत्प्रमादयुक्तत्वात्प्रमत्तसंयताभिधः ॥ ६२१ ॥
मूलशीलगुणैर्युक्तो यदप्यखिलसंयमी ।
व्यक्ताव्यक्तप्रमादत्वाच्चित्रिताचरणो भवेत् ॥ ६२२ ॥
निद्रा स्नेहो हृषीकाणि कषाया विकथाः क्रमात् ।
एकैकं पंच चत्वारश्चतस्रश्च प्रमादकाः ॥ ६२३ ॥
बाह्यैर्दशविधैर्ग्रन्थैश्चेतनाचेतनात्मकैः ।
तथैवाभ्यन्तरोद्भुतैश्चतुर्दशविधैर्च्युताः ॥ ६२४ ॥
क्षेत्रं गृहं धनं धान्यं सुवर्णं रजतं तथा ।
दास्यो दासाश्च भांडं च कुप्यं बाह्यपरिग्रहाः ॥ ६२५ ॥
ग्रन्था हास्यादयो दोषा वामं वेदाः कषायकाः ।
षडेकत्रिचतुर्भेदैरन्तरङ्गाश्चतुर्दश ॥ ६२६ ॥

त्यक्तग्रन्थेषु बाह्येषु पुनर्मुह्यन्ति दुर्धियः ।
समानास्ते भवन्त्युच्चैरुद्गीर्णाहारभोजिनाम् ॥ ६२७ ॥
हास्यादिषट्सु दोषेषु प्रसक्ता जिनलिंगिनः ।
मूढास्ते पुष्पनाराचैर्विभिद्यन्ते यथेप्सितम् ॥ ६२८ ॥
धृत्वा जैनेश्वरं लिंगं वैपरीत्येन वर्तनम् ।
मिथ्यात्वं तद्भवेत्तेषां दुर्गतौ गमने सखा ॥ ६२९ ॥
घूर्ण्यन्ते विषयव्यालैर्भिद्यन्ते मारमार्गणैः ।
वेदरागवशीभूता दह्यन्ते दुःखवन्हिना ॥ ६३० ॥
न शक्नुवन्ति ये जेतुं कषायराक्षसां गणम् ।
वराकाः कार्मणं सैन्यं न ते जेष्यन्ति जातुचित् ॥ ६३१ ॥
रसे रसायने स्तम्भे शाकिनीग्रहनिग्रहे ।
वश्योच्चाटनविद्वेषे भोगीन्द्रविषविष्णवे ॥ ६३२ ॥
इत्यादिषु प्रवर्तन्ते निष्कृपा ऐहिकाशयाः ।
यतित्वं जीवनोपायं भवेत्तेषां विनिश्चितम् ॥ ६३३ ॥
निःशल्या निरहंकारा निर्मोहा मदविच्युताः ।
पक्षपातारिसंत्यक्ता निष्कषाया जितेन्द्रियाः ॥ ६३४ ॥
अन्तर्बाह्यतपोनिष्ठाश्चारित्रव्रतभाजिनः[2] ।
दशधर्मरताः शान्ता ध्यानाध्ययनतत्पराः ॥ ६३५ ॥
भेदाभेदनयाक्रान्तरत्नत्रयविभूषिताः ।
इत्यादिगुणभूषाढ्या जगद्वन्द्या यतीश्वराः ॥ ६३६ ॥
ध्यायन्ति गौणभावाढ्यं धर्म्यमालम्बनान्वितम् ।
मुख्यं धर्म्यं निरालम्बमप्रमत्तमुनीश्वराः ॥ ६३७ ॥

१ ह्येषु. ख. । २ भाजनाः ख. ।

धर्मध्यानं तु सालम्बं चतुर्भेदैर्निगद्यते ।
आज्ञापायविपाकाख्यसंस्थानविचयात्मभिः ॥ ६३८ ॥
स्वसिद्धान्तोक्तमार्गेण तत्वानां चिन्तनं यथा ।
आज्ञया जिननाथस्य तदाज्ञाविचयं मतम् ॥ ६३९ ॥
अपायश्चिन्त्यते बाढं यः शुभाशुभकर्मणाम् ।
अपायविचयं प्रोक्तं तद्ध्यानं ध्यानवेदिभिः ॥ ६४० ॥
संसारवर्तिजीवानां विपाकः कर्मणामयम् ।
दुर्लक्षश्चिन्त्यते यत्र विपाकविचयं हि तत् ॥ ६४१ ॥
विचित्रं लोकसंस्थानं पदार्थैर्निचितं महत् ।
चिन्त्यते यत्र तद्ध्यानं संस्थानविचयं स्मृतम् ॥ ६४२ ॥
अथवा जिनमुख्यानां पंचानां परमेष्ठिनाम् ।
पृथक् पृथक् तु यद्ध्यानं सालंबं तदपि स्मृतम् ॥ ६४३ ॥
सालम्बध्यानमित्येवं ज्ञात्वा ध्यायन्ति योगिनः ।
कर्मनिर्जरणं तेषां प्रभवत्यविलम्बितम् ॥ ६४४ ॥
अस्तित्वान्नोकषायाणामार्तध्यानं प्रजायते ।
निराकरोति तद्ध्यानं स्वाध्यायभावनाबलात् ॥ ६४५ ॥
यावत्प्रमादसंयुक्तस्तावत्तस्य न तिष्ठति ।
धर्मध्यानं निरालम्बमित्यूचुर्जिनभास्कराः ॥ ६४६ ॥
तस्मादार्येषणाद्यैस्तु पापदोषान्निकृन्तति ।
विशुद्ध्यावश्यकैः षड्भिः मुमुक्षुः स्वात्मशुद्धये ॥ ६४७ ॥
समता वन्दना स्तोत्रं प्रत्याख्यानं प्रतिक्रिया ।
व्युत्सर्गश्चेति कर्माणि भवन्त्यावश्यकानि षट् ॥ ६४८ ॥

१ दार्यै. ख. । २ आप्त. ख. । ३ विशुद्ध्या. ख. ।

आवश्यकान् परित्यज्य निश्चलं ध्यानमाश्रयेत् ।
नासौ वेत्त्यागमं जैनं मिथ्यादृष्टिर्भवत्यतः ॥ ६४९ ॥
तस्मादावश्यकैः कुर्यात्प्राप्तदोपनिकृन्तनम् ।
यावन्नाप्नोति सद्ध्यानं निरालम्बं सुनिश्चलम् ॥ ६५० ॥
सम्यग्जिनागमं ज्ञात्वा प्रोक्ततद्ध्यानसाधनात् ।
क्षपकश्रेणिमारुह्य मुक्तेः सद्म प्रपद्यते ॥ ६५१ ॥

[1]इति [2]षष्ठं प्रमत्तगुणस्थानम् ।

अप्रमत्तगुणस्थानमतो वक्ष्ये समासतः ।
भवन्त्यत्र त्रयो भावाः षट्स्थानोदिता यथा ॥ ६५२ ॥
संज्वलनकषायाणां जाते मन्दोदये सति ।
भवेत् प्रमादहीनत्वादप्रमत्तो महाव्रती ॥ ६५३ ॥
नष्टशेषप्रमादात्मा व्रतशीलगुणान्वितः ।
ज्ञानध्यानपरो मौनी शमनक्षपणोन्मुखः ॥ ६५४ ॥
एकविंशतिभेदात्ममोहस्योपशमाय च ।
क्षपणाय करोत्येष सद्ध्यानसाधनं यमी ॥ ६५५ ॥
मुख्यवृत्त्या भवत्यत्र धर्मध्यानं जिनोदितम् ।
तत्र तावद्भवेद् ध्याता ध्येयं ध्यानं फलं क्रमात् ॥ ६५६ ॥
आहारासननिद्राणां विजयो यस्य जायते ।
पंचानामिन्द्रियाणां च परीषहसहिष्णुता ॥ ६५७ ॥
गिरीन्द्र इव निष्कम्पो गम्भीरस्तोयराशिवत् ।
अशेषशास्त्रविद्धीरो ध्याताऽसौ कथ्यते बुधैः ॥ ६५८ ॥

---

१ इति ख–पुस्तके नास्ति । २ षष्ठं क–पुस्तके नास्ति ।

यथावद्वस्तुनो रूपं ध्येयं स्यात् संयमसतां (मेशिनां) ।
एकाग्रचिन्तनं ध्यानं चतुर्भेदविराजितम् ॥ ६५९ ॥
पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम् ।
आद्यत्रयं तु सालम्बमन्त्यमालम्बनोज्झितम् ॥ ६६० ॥
पिण्डो देह इति[1] तत्र तत्रास्त्यात्मा चिदात्मकः ।
तस्य चिन्तामयं सद्भिः पिण्डस्थं ध्यानमीरितम् ॥ ६६१ ॥
पंचानां सद्गुरूणां यत् पदान्यालंब्य चिन्तनम् ।
पदस्थध्यानमाम्नातं ध्यानाग्निध्वस्तकल्मषैः ॥ ६६२ ॥
आत्मा देहस्थितो यद्वच्चिन्त्यते देहतो बहिः ।
तद् रुपस्थं स्मृतं ध्यानं भव्यराजीव भास्करैः ॥ ६६३ ॥
ध्यानत्रयेऽत्र सालंबे कृताभ्यासः पुनः पुनः ।
रूपातीतं निरालम्बं ध्यातुं प्रक्रमते यतिः ॥ ६६४ ॥
इन्द्रियाणि विलीयन्ते मनो यत्र लयं व्रजेत् ।
ध्यातृध्येयविकल्पे न तद्ध्यानं रूपवर्जितम् ॥ ६६५ ॥
अमूर्तमजमव्यक्तं निर्विकल्पं चिदात्मकम् ।
स्मरेद्यत्रात्मनात्मानं रूपातीतं च तद्विदुः ॥ ६६६ ॥
रूपातीतमिदं ध्यानं ध्यायन् योगी समाहितः ।
चराचरमिदं विश्वं क्षोभयत्यखिलं क्षणात् ॥ ६६७ ॥
सिद्धयोऽप्यणिमाद्याश्च सिद्ध्यन्ति स्वयमेव हि ।
मुक्तिस्त्रीवश्यतां याति योगिनस्तस्य निश्चितम् ॥ ६६८ ॥
इत्येतस्मिन् गुणस्थाने नो सन्त्यावश्यकानि षट् ।
संततध्यानसद्योगाद् बुद्धिः स्वाभाविकी यतः ॥ ६६९ ॥

१ 'इतिस्तत्रस्तत्रा' इति क–पुस्तके । ख–पुस्तके तु 'इतिस्तोत्रस्तत्रा' इति पाठः ।

अप्रमत्तं गुणस्थानं संक्षेपेणेह वर्णितम् ।
अतो वक्ष्येऽष्टमं स्थानं श्रेणिद्वयसमाश्रितम् ॥ ६७० ॥

इति सप्तममप्रमत्तगुणस्थानम् ।

अतोऽपूर्वादिनामानि गुणस्थानान्युदीरयेत् ।
भवत्युपशमश्रेणी येभ्यश्च क्षपकावलिः ॥ ६७१ ॥
तत्रापूर्वगुणस्थानमपूर्वगुणसंभवात् ।
भावानामनिवृत्तित्वादनिवृत्तिगुणास्पदम् ॥ ६७२ ॥
अस्तित्वात्सूक्ष्मलोभस्य भवेत्सूक्ष्मकषायकम् ।
प्रशान्तरागयुक्तत्वादुपशान्तकषायकम् ॥ ६७३ ॥
तत्रापूर्वगुणस्थाने प्रथमांशे[1] प्रजायते ।
बन्धविच्छेदनं सम्यङ्निद्राप्रचलयोर्द्वयोः ॥ ६७४ ॥
आरोहति ततः श्रेणिमादिमामुपशामकः[2] ।
सत्यायुष्युपशान्त्याप्तिं प्रापयेद्वृत्तमोहनम् ॥ ६७५ ॥
क्षपकः क्षपयत्युच्चैश्चारित्रमोहपर्वतम् ।
आरुह्य क्षपकश्रेणिमुपर्युपरि शुद्धितः ॥ ६७६ ॥
प्रभवत्युपशमश्रेण्यां भावो ह्युपशमात्मकः ।
चारित्रं तद्विधं ज्ञेयं वृत्तमोहोपशान्तितः ॥ ६७७ ॥
स्यादुपशमसम्यक्त्वं प्रशमाद् दृष्टिमोहतः ।
केषांचित् क्षायिकं प्रोक्तं दृष्टिघ्नकर्मणः क्षयात् ॥ ६७८ ॥
तत्राद्यं शुक्लसद्ध्यानं स ध्यायत्युपशामकः[3] ।
पूर्वज्ञः शुद्धिमान् युक्तो ह्याद्यैः संहननैस्त्रिभिः ॥ ६७९ ॥

---

१ प्रथमभागे । २ गः ख. । ३ गः ख. ।

तद्ध्यानयोगतो योगी परां शुद्धिं प्रगच्छति ।
प्रापयन्नुपशान्ताप्तिं वृत्तमोहं महारिपुम् ॥ ६८० ॥
वृत्तमोहोदयं प्राप्य पुनः प्रच्यवते यतिः ।
अधःकृतमलं तोयं पुनर्म्लानं भवेद्यथा ॥ ६८१ ॥
ऊर्ध्वमेकं च्युतो वामं सप्तमं यान्ति देहिनः ।
इति त्रयमपूर्वाद्यास्त्रयो यान्त्युपशामकाः[1] ॥ ६८२ ॥
उपशान्तकषायस्य न ह्यस्त्यूर्ध्वगुणाश्रयः ।
ततोऽसौ वामतां याति सप्तमं वा गुणास्पदम् ॥ ६८३ ॥
उपशान्तगुणश्रेण्यां येषां मृत्युः प्रजायते ।
अहमिन्द्रा भवन्त्येते सर्वार्थसिद्धिसद्मनि ॥ ६८४ ॥
चतुर्वारं शमश्रेणिं रोहत्याश्रयते यमम् ।
द्वात्रिंशद्वारमाक्षीणकर्मांशा यान्ति निर्वृतिम् ॥ ६८५ ॥
[2]आसंसारं चतुर्वारमेव स्याच्छमनोवला ? ।
जीवस्यैकभवे वारद्वयं सा यदि जायते ॥ ६८६ ॥

उक्तं चान्यत्र ग्रन्थान्तरे—

चत्तारि वारमुवसमसेढिं समरुहदि खविदकंमंसो ।
बत्तीसं वाराइं सजम[3] गहिदि पुणो लहदि णिव्वाणं ॥ १ ॥
[4]इत्युपशमश्रेणिगुणस्थानचतुष्टयम् ।

अतो वक्ष्ये समासेन क्षपकश्रेणिलक्षणम् ।
योगी कर्मक्षयं कर्तुं यामारुह्य प्रवर्तते ॥ ६८७ ॥

---

१ गाः ख. । २ श्लोकोऽयं नास्ति ख-पुस्तके । ३ प्राकृतपंचसंग्रहे तु "संजममुवलहिय णिव्वादि" इति पाठः । ४ इति ख-पुस्तके नास्ति ।

आयुर्बन्धविहीनस्य क्षीणकर्मांशदेहिनः ।
असंयतगुणस्थाने नरकायुः क्षयं व्रजेत् ॥ ६८८ ॥
तिर्यगायुः क्षयं याति गुणस्थाने तु पंचमे ।
सप्तमे त्रिदशायुश्च दृष्टिमोहस्य सप्तकम् ॥ ६८९ ॥
एतानि दश कर्माणि क्षयं नीत्वाथ शुद्धधीः ।
धर्मध्याने कृताभ्यासः समारोहति तत्पदम् ॥ ६९० ॥
मुख्यत्वेनेह साधूनां भावो हि क्षायिको मतः ।
सम्यक्त्वं क्षायिकं शुद्धं दृष्टिमोहारिसंक्षयात् ॥ ६९१ ॥
तत्रापूर्वगुणस्थाने शुक्लसद्ध्यानमादिमम् ।
ध्यातुं प्रक्रमते साधुराद्यसंहननान्वितः ॥ ६९२ ॥
ध्यानस्य विघ्नकारीणि त्यक्त्वा स्थानान्यशेषतः ।
विशुद्धानि मनोज्ञानि ध्यानसिद्ध्यर्थमाश्रयेत् ॥ ६९३ ॥

द्विकलं—

निष्प्रकम्पं विधायाथ दृढपर्यंकमासनम् ।
नासाग्रे दत्तसन्नेत्रः किंचिन्निमीलितेक्षणः ॥ ६९४ ॥
विकल्पवागुराजालाद्दूरोत्सारितमानसः ।
संसारच्छेदनोत्साहः स योगी ध्यातुमर्हति ॥ ६९५ ॥
अपानद्वारमार्गेण निःसरन्तं यथेच्छया ।
निरुद्ध्योर्ध्वप्रचाराप्तिं प्रापयत्यनिलं मुनिः ॥ ६९६ ॥
द्वादशाङ्गुलपर्यन्तं समाकृष्य समीरणम् ।
पूरयत्यतियत्नेन पूरकध्यानयोगतः ॥ ६९७ ॥

१ बन्धाभावादयत्नसाध्य एतदायुःक्षयोऽत्र । २ यद्. ख

कुम्भवत्कुम्भकं योगी श्वसनं नाभिपंकजे ।
कुम्भकध्यानयोगेन सुस्थिरं कुरुते क्षणम् ॥ ६९८ ॥
निःसार्यते ततो यत्नान्नाभिपद्मोदराच्छनैः ।
योगिना योगसामर्थ्याद्रेचकाख्यः प्रभंजनः ॥ ६९९ ॥
इत्येवं गन्धवाहानामाकुंचनविनिर्गमौ ।
संसाध्य निश्चलं धत्ते चित्तमेकाग्रचिन्तने ॥ ७०० ॥
सवितर्कं सवीचारं सपृथक्त्वमुदाहृतम् ।
त्रियोगयोगिनः साधोः शुक्लमाद्यं सुनिर्मलम् ॥ ७०१ ॥
श्रुतं चिंता वितर्कः स्याद्वीचारः संक्रमो मतः ।
पृथक्त्वं स्यादनेकत्वं भवत्येतत्त्रयात्मकम् ॥ ७०२ ॥
तद्यथा—

स्वशुद्धात्मानुभूत्यात्मभावानामवलंबनात्[1] ।
अन्तर्जल्पो वितर्कः स्याद्यस्मिंस्तत्सवितर्कजम्[2] ॥ ७०३ ॥
अर्थादर्थान्तरे शब्दाच्छब्दान्तरे च संक्रमः ।
योगाद्योगान्तरे यत्र सवीचारं तदुच्यते ॥ ७०४ ॥
द्रव्याद् द्रव्यान्तरं याति गुणाद्गुणान्तरं व्रजेत् ।
पर्यायादन्यपर्यायं सपृथक्त्वं भवत्यतः ॥ ७०५ ॥
इति त्रयात्मकं ध्यानं ध्यायन् योगी समाहितः ।
संप्राप्नोति परां शुद्धिं मुक्तिश्रीवनितासखीम् ॥ ७०६ ॥
यद्यपि प्रतिपात्येतच्छुक्लध्यानं प्रजायते ॥
तथाप्यतिविशुद्धत्वादूर्ध्वास्पदं समीहते ॥ ७०७ ॥

१ भावश्रुतावलम्बनात् ख. । २ जः क. ।

इत्यष्टमं क्षपकापूर्वकरणगुणस्थानम् ।

अनिवृत्तिगुणस्थानं ततः समधिगच्छति ।
भावं क्षायिकमाश्रित्य सम्यक्त्वं च तथाविधम् ॥ ७०८ ॥
गुणस्थानस्य तस्यैव भागेषु नवसु क्रमात् ।
नश्यन्ति तानि कर्माणि तेनैव ध्यानयोगतः ॥ ७०९ ॥
गतिः श्वाभ्री च तैरश्वी तच्चानुपूर्विकाद्वयम् ।
साधारणत्वमुद्योतः सूक्ष्मत्वं विकलत्रयम् ॥ ७१० ॥
एकेन्द्रियत्वमातापस्त्यानगृद्ध्यादिकत्रयम् ।
आद्यांशे स्थावरत्वेन सहितान्येतानि षोडश ॥ ७११ ॥
अष्टौ मध्यकषायाश्च द्वितीयेऽथ तृतीयके ।
पंढत्वं तुर्यके स्त्रीत्वं नोकषाया षट्पंचमे ॥ ७१२ ॥
पुंवेदश्च ततः क्रोधो मानो माया विनश्यति ।
चतुर्ष्वांशेषु शेषेषु यथाक्रमेण निश्चितम् ॥ ७१३ ॥
कर्माण्येतानि षट्त्रिंशत्क्षयं नीत्वा तदन्तिमे ।
समये स्थूललोभस्य सूक्ष्मत्वं प्रापयेन्मुनिः ॥ ७१४ ॥

इति नवमं क्षपकानिवृत्तिगुणस्थानम् ।

आरोहति ततः सूक्ष्मसांपरायगुणास्पदम् ।
सूक्ष्मलोभं निगृह्णाति तत्रासावाद्यशुक्लतः ॥ ७१५ ॥

इति दशमं क्षपकसूक्ष्मकषायगुणस्थानम् ।

भूत्वाथ क्षीणमोहात्मा वीतरागो महाद्युतिः ।
पूर्ववद्भावसंयुक्तो द्वितीयं ध्यानमाश्रयेत् ॥ ७१६ ॥

अपृथक्त्वमवीचारं सवितर्कगुणान्वितम् ।
संध्यायत्येकयोगेन शुक्लध्यानं द्वितीयकम् ॥ ७१७ ॥

तद्यथा—

यद्द्रव्यगुणपर्यायपरावर्तविवर्जितम् ।
चिन्तनं तदवीचारं स्मृतं सद्ध्यानकोविदैः ॥ ७१८ ॥
निजशुद्धात्मनिष्ठत्वाद् भावश्रुतावलम्बनात् ।
चिन्तनं क्रियते यत्र सवितर्कस्तदुच्यते ॥ ७१९ ॥
निजात्मद्रव्यमेकं वा पर्यायमथवा गुणम् ।
निश्चलं चिन्त्यते यत्र तदेकत्वं विदुर्बुधाः ॥ ७२० ॥
इत्येकत्वमवीचारं सवितर्कमुदाहृतम् ।
तस्मिन् समरसीभावं धत्ते स्वात्मानुभूतितः ॥ ७२१ ॥
इत्येतद्ध्यानयोगेन [२]प्रोष्यत्कर्मेन्धनोत्करम् ।
निद्राप्रचलयोर्नाशं करोत्युपान्तिमक्षणे ॥ ७२२ ॥
अन्त्ये दृष्टिचतुष्कं च दशकं ज्ञानविघ्नयोः ।
एवं षोडशकर्माणि क्षयं गच्छत्यशेषतः ॥ ७२३ ॥
एतत्कर्मरिपून् हत्वा क्षीणमोहो मुनीश्वरः ।
उत्पाद्य केवलज्ञानं सयोगी समभूत्तदा ॥ ७२४ ॥

इति द्वादशं क्षीणकषायगुणस्थानम् ।

ततस्त्रयोदशे स्थाने देवदेवः सनातनः ।
राजते ध्यानयोगस्य फलादेवाप्तवैभवः ॥ ७२५ ॥

---

१ श्लोकोऽयं ७१८ श्लोकात्पूर्वं ख–पुस्तके । २ प्लुष्यत्कर्मे० ख. ।

भावोऽत्र क्षायिकः शुद्धः सम्यक्त्वं क्षायिकं परम् ।
यथाख्यातं हि चारित्रं निर्ममत्वस्य जायते ॥ ७२६ ॥
यदौदारिकमङ्गं तु सप्तधातुसमन्वितम् ।
अन्यथा तद्भूत्तस्मात्परमौदारिकं स्मृतम् ॥ ७२७ ॥
तेजोमूर्तिमयं दिव्यं सहस्रार्कसमप्रभम् ।
विनष्टाङ्गप्रतिच्छायं नष्टकेशादिवर्धनम् ॥ ७२८ ॥
यदार्हन्त्यं पदं प्राप्य देवेशो देवपूजितः ।
जन्ममृत्युजरातङ्कविच्युतः प्रभवत्यसौ ॥ ७२९ ॥
ज्ञानदृष्ट्यावृतेस्त्यागात्केवलज्ञानदर्शने ।
उदयं प्राप्नुतस्तस्य जिनेन्द्रस्यातिनिर्मले ॥ ७३० ॥
अनन्तसुखसम्भूतिर्जाता मोहारिसंक्षयात् ।
विप्लवादन्तरायस्य कर्मणोऽनन्तवीर्यता ॥ ७३१ ॥
चराचरमिदं विश्वं हस्तस्थामलकोपमम् ।
प्रत्यक्षं भासते तस्य केवलज्ञानभास्वतः ॥ ७३२ ॥
विशुद्धं दर्शनं ज्ञानं चारित्रं भेदवर्जितम् ।
प्रव्यक्तं समभूत्तस्य जिनेन्द्रस्यामितद्युतेः ॥ ७३३ ॥
द्विकलं—
प्रातिहार्याष्टकोपेतः सर्वातिशयभूषितः ।
मुनिवृन्दैः समाराध्यो देवदेवार्चितक्रमः ॥ ७३४ ॥
विहरन् सकलां पृथ्वीं भव्यवृन्दान् विबोधयन् ।
कुर्वन् धर्मामृतासारं राजते देवसंसदि ॥ ७३५ ॥
कतिचिद्दिनशेषायुर्निष्ठाप्य योगवैभवम् ।
अन्तर्मुहूर्तशेषायुस्तृतीयं ध्यानमर्हति ॥ ७३६ ॥

---

१ वर्षा ।

षण्मासायुस्थितेरन्ते[1] यस्य स्यात्केवलोद्गमः ।
करोत्यसौ समुद्धातमन्ये कुर्वन्ति वा न वा ॥ ७३७ ॥
यस्यास्त्यघातिनां मध्ये किंचिन्न्यूनायुषः स्थितिः ।
तत्समीकरणावाप्त्यै समुद्धाताय चेष्टते ॥ ७३८ ॥
दण्डाकारं कपाटात्म्यं प्रतरात्म्यं ततो जगत्—
पूरणं कुरुते साक्षाच्चतुर्भिः समयैर्द्रुतं ॥ ७३९ ॥
युगलं—

एवमात्मप्रदेशानां प्रसारणविधानतः ।
आयुःसमानि कर्माणि कृत्वा शेषाणि तत्क्षणे ॥ ७४० ॥
ततो निवर्तते तद्वल्लोकपूरणतः क्रमात् ।
चतुर्भिः समयैरेव निर्विकल्पस्वभावतः ॥ ७४१ ॥
समुद्धातस्य[2] तस्याद्येऽष्टमे वा समये मुनिः ।
औदारिकाङ्गयोगः स्याद्द्विषट्सप्तकेषु तु ॥ ७४२ ॥
मिश्रौदारिकयोगी च तृतीयाद्येषु[3] तु त्रिषु ।
समयेष्वेककर्माङ्गधरोऽनाहारकश्च सः ॥ ७४३ ॥
समुद्धातान्निवृत्तोऽथ शुक्लध्यानं तृतीयकम् ।
सूक्ष्मक्रियं अपातित्ववर्जितं ध्यायति क्षणं ॥ ७४४ ॥
ध्यातुं विचेष्टते तस्माच्छुक्लध्यानं तृतीयकम् ।
सूक्ष्मक्रियाभिधं शुद्धं प्रतिपातित्ववर्जितम् ॥ ७४५ ॥

---

१ षण्मासायुषि शेषे संवृता ये जिनाः प्रकर्षेण ।
ते यान्ति समुद्धातं शेषा भाज्याः समुद्धाते ॥ १ ॥
२—७४२—४३—४४ एतच्छ्लोकत्रयं. ख—पुस्तके नास्ति ।
३ तृतीयचतुर्थपंचमेषु त्रिषु समयेषु कार्मणकाययोगी ।

आत्मस्पन्दात्मयोगानां क्रिया सूक्ष्माऽनिवर्तिका ।
यस्मिन् प्रजायते साक्षात्सूक्ष्मक्रियानिवर्तकम् ॥ ७४६ ॥
बादरकाययोगेऽस्मिन् स्थितिं कृत्वा स्वभावतः ।
सूक्ष्मीकरोति वाक्चित्तयोगयुग्मं स बादरम् ॥ ७४७ ॥
त्यक्त्वा स्थूलं वपुर्योगं सूक्ष्मवाक्चित्तयोः स्थितिम् ।
कृत्वा नयति सूक्ष्मत्वं काययोगं च बादरम् ॥ ७४८ ॥
स सूक्ष्मे काययोगेऽथ स्थितिं कृत्वा पुनः क्षणम् ।
निग्रहं कुरुते सद्यः सूक्ष्मवाक्चित्तयोगयोः ॥ ७४९ ॥
ततः सूक्ष्मे वपुर्योगे स्थितिं कृत्वा क्षणं हि सः ।
सूक्ष्मक्रियं निजात्मानं चिद्रूपं चिन्तयेज्जिनः ॥ ७५० ॥
ध्यानध्येयादिसंकल्पैर्विहीनस्यापि योगिनः ।
विकल्पातीतभावेन प्रस्फुरत्यात्मभावना ॥ ७५१ ॥
अन्ते तद्ध्यानसामर्थ्याद्वपुर्योगे स सूक्ष्मके ।
तिष्ठन्नूर्ध्वास्पदं शीघ्रं योगातीतं समाश्रयेत् ॥ ७५२ ॥

इति त्रयोदशं सयोगिगुणस्थानम् ।

अथायोगिगुणस्थाने तिष्ठतोऽस्य जिनेशिनः ।
लघुपंचाक्षरोच्चारप्रमितावस्थितिर्भवेत् ॥ ७५३ ॥
तत्रानिवृत्तिशब्दान्तं समुच्छिन्नक्रियात्मकम् ।
चतुर्थं वर्तते ध्यानमयोगिपरमेष्ठिनः ॥ ७५४ ॥
समुच्छिन्नक्रिया यत्र सूक्ष्मयोगात्मिका यतः ।
समुच्छिन्नक्रियं प्रोक्तं तद्द्वारं मुक्तिसद्मनः ॥ ७५५ ॥

---

१ श्लोकोऽयं ख-पुस्तकाद्धृतः । २ जिनात्मानं ख. ।

देहास्तित्वेऽस्त्ययोगित्वं कथं तद्घटते प्रभोः ।
देहाभावे कथं ध्यानं दुर्घटं घटते कथम् ॥ ७५६ ॥

द्विकलं—

अतिसूक्ष्मशरीरस्य ह्युपान्त्यसमयावधेः ।
कायकार्यस्य सूक्ष्मस्य स्वशक्तिविगतात्मनः ॥ ७५७ ॥
अत्यन्तस्वल्पकालेन भाविप्रक्षयसंस्थितेः[1] ।
अकिंचित्करसामर्थ्यात्तस्मादयोगिता मता ॥ ७५८ ॥
तच्छरीराश्रयाद्ध्यानमस्तीति न विरुद्ध्यते ।
निजशुद्धात्मचिद्रूपनिर्भरानन्दशालिनः ॥ ७५९ ॥
आत्मानमात्मनात्मैव ध्याता ध्यायति तत्वतः ।
उपचारस्तदा[2]न्यो हि व्यवहारनयाश्रयः ॥ ७६० ॥
उपान्त्यसमये तत्र तच्छुद्धात्मप्रचिन्तनात् ।
द्वासप्ततिर्विलीयन्ते कर्माण्येतान्ययोगिनः ॥ ७६१ ॥
देहबन्धनसंघाताः प्रत्येकं पंच पंच च ।
आङ्गोपाङ्गत्रयं चैव षट्कं संस्थानसंज्ञकम् ॥ ७६२ ॥
वर्णाः पंच रसाः पंच षट्कं संहननात्मकम् ।
स्पर्शाष्टकं च गन्धौ द्वौ नीचानादेयदुर्भगम् ॥ ७६३ ॥
तथागुरुलघुत्वाख्यमुपघातो[3]ऽन्यथा[4] ततः ।
निर्मापणमपर्याप्तमुच्छ्वासस्त्वयशस्तथा ॥ ७६४ ॥
विहायगमनद्वन्द्वं शुभस्थैर्यद्वयं पृथक् ।
गतिर्देव्यानुपूर्वी च प्रत्येकं च स्वरद्वयम् ॥ ७६५ ॥

१ संस्थितं । २ द. ख. । ३ घातता ख. । ४ परघातनामकर्मेत्यर्थः ।

वेद्यमेकतरं चेति कर्मप्रकृतयः स्मृताः।
स्वामिनो विघ्नकारिण्यो मुक्तिकान्तासमागमे ॥ ७६६ ॥
अन्ते ह्येकतरं वेद्यमादेयत्वं च पूर्णता।
त्रसत्वं बादरत्वं च मनुष्यायुश्च सद्यशः ॥ ७६७ ॥
नृगतिश्चानुपूर्वी च सौभाग्यमुच्चगोत्रता।
पंचाक्षं च तथा तीर्थकृन्नामेति त्रयोदश ॥ ७६८ ॥
क्षयं नीत्वाथ लोकान्तं यावत्प्रयाति तत्क्षणे।
ऊर्ध्वगतिस्वभावत्वाद्धर्मद्रव्यसहायतः ॥ ७६९ ॥
इत्येवं लब्धसिद्धत्वपर्यायाः परमेष्ठिनः।
मुक्तिकान्ताघनाश्लेषसुखास्वादनलालसाः ॥ ७७० ॥
गतिसिक्थकमूषाया[1] आकारेणोपलक्षिताः।
किंचित्पूर्वांगतो न्यूनाः सर्वांगेषु घनत्वतः ॥ ७७१ ॥
ऊर्ध्वीभूता वसन्त्येते तनुवातान्तमस्तकाः।
अभावाद्धर्मद्रव्यस्य परतो गतिवर्जिताः ॥ ७७२ ॥
ज्ञातारोऽखिलतत्वानां द्रष्टारश्चैकहेलया।
गुणपर्यायसुयुक्तानां त्रैलोक्योदरवर्तिनाम् ॥ ७७३ ॥
विशुद्धा निश्चला नित्याः सम्यक्त्वाद्यष्टभिर्गुणैः।
लोकमूर्ध्नि विराजन्ते सिद्धास्तेभ्यो नमो नमः ॥ ७७४ ॥
चक्रिणामहमिन्द्राणां त्रैकाल्यं यत्सुखं परम्।
तदनन्तगुणं तेषां सिद्धानां समतात्मकम् ॥ ७७५ ॥
यद्ध्येयं यच्च कर्तव्यं यच्च साध्यं सुदुर्लभम्।
चिदानन्दमयज्योतिर्जातास्ते तत्पदं स्वयम् ॥ ७७६ ॥

---

१ गतसिक्थकमूषाय. ख.।

किमत्र बहुनोक्तेन दुःसाध्यं ध्यानसाधनात् ।
नास्ति जगत्त्रये तद्धि तस्माद्ध्यानं प्रशस्यते ॥ ७७७ ॥
ध्यानस्य फलमीदृक्षं सम्यग्ज्ञात्वा मुमुक्षुभिः ।
ध्यानाभ्यासस्ततः श्रेयान् यस्मान्मुक्ति प्रगम्यते ॥ ७७८ ॥
भूयाद्भव्यजनस्य विश्वमहितः श्रीमूलसंघः श्रिये
यत्राभूद्विनयेन्दुरद्भुतगुणः सच्छीलदुग्धार्णवः ॥
तच्छिष्योऽजनि भद्रमूर्तिरमलस्त्रैलोक्यकीर्तिः शशी ।
येनैकान्तमहातमः प्रमथितं स्याद्वादविद्याकरैः ॥७७९॥
दृप्यद्वादिकरीन्द्रसिंह...

दृष्टिस्वस्तटिनीमहीधरपतिर्ज्ञानाब्धिचन्द्रोदयो
वृत्तश्रीकलिकेलिहेमनलिनं शान्तिक्षमामन्दिरम् ॥
कामं स्वात्मरसप्रसन्नहृदयः संगक्षपाभास्कर-
स्तच्छिष्यः क्षितिमण्डले विजयते लक्ष्मीन्दुनामा मुनिः ॥
श्रीमत्सर्वज्ञपूजाकरणपरिणतस्तत्त्वचिन्तारसालो
लक्ष्मीचन्द्रांह्रिपद्ममधुकरः श्रीवामदेवः सुधीः ।
उत्पत्तिर्यस्य जाता शशिविशदकुले नैगमश्रीविशाले
सोऽयं जीयात्प्रकामं जगति रसलसद्भावशास्त्रप्रणेता ॥७८१॥
यावद्द्वीपाब्धयो मेरुर्यावच्चन्द्रदिवाकरौ ।
तावद्वृद्धिं प्रयात्युच्चैर्विशदं जैनशासनम् ॥ ७८२ ॥
इति चतुर्दशमयोगिगुणस्थानम् ।

इति श्रीमद्वामदेवपण्डितविरचितो भावसंग्रहः
समाप्तः ।

श्री-श्रुतमुनि-विरचिता

भाव-त्रिभङ्गी।



भावसंग्रहापरनामा।

(संदृष्टि-संहिता)

खविदघणघाइकम्मे अरहंते सुविदिदत्थणिवहे य।
सिद्धट्ठगुणे सिद्धे रयणत्तयसाहगे थुवे साहू ॥ १ ॥

क्षपितघनघातिकर्मणोऽर्हतः सुविदितार्थनिवहांश्च।
सिद्धाष्टगुणान् सिद्धान् रत्नत्रयसाधकान् स्तौमि साधून् ॥

इदि वंदिय पंचगुरू सरूवसिद्धत्थ भवियबोहत्थं।
सुत्तुत्तं मूलुत्तरभावसरूवं पवक्खामि ॥ २ ॥

इति वन्दित्वा पंचगुरून् स्वरूपसिद्धार्थं भविकबोधार्थं।
सूत्रोक्तं मूलोत्तरभावस्वरूपं प्रवक्ष्यामि ॥

णाणावरणचउण्हं खओवसमदो हवंति चउणाणा।
पणणाणावरणीएखयदो दु हवेइ केवलं णाणं ॥ ३ ॥

ज्ञानावरणचतुर्णां क्षयोपशमतो भवन्ति चतुर्ज्ञानानि।
पंचज्ञानावरणीयक्षयतस्तु भवति केवलं ज्ञानं ॥

मिच्छत्तणउदयादो जीवाणं होदि कुमति कुसुदं च।
वेभंगो अण्णाणति सण्णाणतियेव णियमेण ॥ ४ ॥

मिथ्यात्वानोदयाज्जीवानां भवति कुमतिः कुश्रुतं च।
विभंगः अज्ञानत्रिकं सज्ज्ञानत्रिकमेव नियमेन ॥

दंसणवरणक्खयदो केवलदंसण णुणाणभावो हु।
चक्खुदंसणपमुहावरणीयखओवसमदो य ॥ ५ ॥

दर्शनावरणक्षयतः केवलदर्शनं गुणानभावो हि।
चक्षुर्दर्शनप्रमुखावरणीयक्षयोपशमतश्च ॥

चक्खुअचक्खुओहीदंसणभावा हवंति णियमेण।
पणविग्घक्खयजादा खाइयदाणादिपणभावा ॥ ६ ॥

चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनभावा भवन्ति नियमेन।
पंचविघ्नक्षयजाताः क्षायिकदानादिपंचभावाः ॥

खाओवसमियभावो दाणं लाहं च भोगमुवभोगं।
वीरियमेदे णेया पणविग्घखओवसमजादा ॥ ७ ॥

क्षायोपशमिकभावो दानं लाभश्च भोग उपभोगः।
वीर्यमेते ज्ञेया पंचविघ्नक्षयोपशमजाताः ॥

दंसणमोहंति हवे मिच्छं मिस्सत्त सम्मपयडित्ति।
अणकोहादी एदा णिद्दिट्ठा सत्तपयडीओ ॥ ८ ॥

दर्शनमोहमिति भवेत् मिथ्यात्वं मिश्रत्वं सम्यक्त्वप्रकृ-
तिरिति। अनक्रोधादय एता निर्दिष्टाः सप्तप्रकृतयः ॥

सत्तण्हं उवसमदो उवसमसम्मो खयादु खइयो य।
छक्कुवसमदो सम्मगुदयादो वेदगं सम्मं ॥ ९ ॥

सप्तानामुपशमत उपशमसम्यक्त्वं क्षयात्क्षायिकं च।
षट्कोपशमतः सम्यक्त्वोदयात् वेदकं सम्यक्त्वं ॥

चारित्तमोहणीए उवसमदो होदि उवसमं चरणं।
खयदो खइयं चरणं खओवसमदो सरागचारित्तं ॥ १० ॥

चरित्रमोहनीयस्य उपशमतः भवत्युपशमं चरणं।
क्षयतः क्षायिकं चरणं क्षयोपशमतः सरागचारित्रं ॥

आदिमकसायवारसखओवसम संजलणणोकसायाण।
उदयेण (य) जं चरणं सरागचारित्त तं जाण ॥ ११ ॥

आदिमकषायद्वादशक्षयोपशमेन संज्वलननोकषायाणां।
उदयेन 'च' यच्चरणं सरागचारित्रं तज्जानीहि ॥

मज्झिमकसायअडउवसमे हु संजलणणोकसायाणं।
खइउवसमदो होदि हु तं चेव सरागचारित्तं ॥ १२ ॥

मध्यमकषायाष्टोपशमे हि संज्वलननोकषायाणां।
क्षयोपशमतो भवति हि तच्चैत्र सरागचारित्रं ॥

जीवदि जीविस्सदिं जो हि जीविदो बाहिरेहिं पाणेहिं।
अब्भंतरेहिं णियमा सो जीवो तस्स परिणामो ॥ १३ ॥

जीवति जीविष्यति यो हि जीवितः बाह्यैः प्राणैः।
अभ्यन्तरैः नियमात् स जीवस्तस्य परिणामः ॥

रयणत्तयसिद्धीएऽणंतचउट्टयसरूवगो भविदुं।
जुग्गो जीवो भव्वो तव्विवरीओ अभव्वो दु ॥ १४ ॥

रत्नत्रयसिद्ध्याऽनन्तचतुष्टयस्वरूपको भवितुं।
योग्यो जीवो भव्यः तद्विपरीतोऽभव्यस्तु ॥

जीवाणं मिच्छुदया अण[1]उदयादो अतच्चसद्धाणं।
हवदि हु तं मिच्छत्तं अणंतसंसारकारणं जाणे ॥ १५ ॥

जीवानां मिथ्यात्वोदयादनोदयतोऽतत्वश्रद्धानं।
भवति हि तन्मिथ्यात्वं अनंतसंसारकारणं जानीहि ॥

१ अनन्तानुबन्ध्युदयात्।

अपचक्खाणुदयादो[1] असंजमो पढमचउगुणट्ठाणे ।
पच्चक्खाणुदयादो देसजमो होदि देसगुणे ॥ १६ ॥

अप्रत्याख्यानोदयात् असंयमः प्रथमचतुर्गुणस्थाने ।
प्रत्याख्यानोदयाद्देशयमो भवति देशगुणे ॥

गदिणामुदयादो(चउ)गदिणामा वेदतिदयउदयादो ।
लिंगत्तयभाव(वो)पुण कसायजोगप्पवित्तिदो[2] लेस्सा ॥१७॥

गतिनामोदयात् गतिनामा वेदत्रिकोदयात् ।
लिंगत्रयभावः पुनः कषाययोगप्रवृत्तितो लेश्याः ॥

जाव दु केवलणाणस्सुदओ[3] ण हवेदि ताव अण्णाणं ।
कम्माण विप्पमुक्को जाव ण ताव दु असिद्धत्तं ॥ १८ ॥

यावत्तु केवलज्ञानस्योदयो न भवति तावदज्ञानं ।
कर्मणां विप्रमोक्षो यावन्न तावत्तु असिद्धत्वं ॥

कोहादीणुदयादो जीवाणं होंति चउकसाया हु ।
इदि सव्वुत्तरभावुप्पत्तिसरूवं वियाणाहि ॥ १९ ॥

क्रोधादीनामुदयात् जीवानां भवन्ति चतुष्कषाया हि ।
इति सर्वोत्तरभावोत्पत्तिस्वरूपं विजानीहि ॥

उवसमसरागचरियं खइया भावा य णव य मणपज्जं ।
रयणत्तयसंपत्तेसुत्तममणुवेसु होंति खलु ॥ २० ॥

उपशमसरागचारित्रं क्षायिका भावाश्च नव च मनःपर्ययः ।
रत्नत्रयसम्प्राप्तेषु मनुष्येषु भवन्ति खलु ॥

---

१ नामैकदेशे नाम प्रवर्तते इति न्यायादप्रत्याख्यानशब्देनाप्रत्याख्यानावरणाख्यः कषायः गृह्यते । २ ' जोगपउत्ती लेस्सा कसायउदयाणुरंजिया होइ ' इत्यागमः । ३ उदयः प्रादुर्भावः ।

इति पीठिका-विचारणं ।

भावा खइयो उवसम मिस्सो पुण पारिणामिओदइओ ।
एदेसं(सिं)भेदा णव दुग अडदस तिण्णि इगिवीसं ॥२१॥

भावाः क्षायिक औपशमिको मिश्रः पुनः पारिणामिक औदयिकः।
एतेषां भेदा नव द्वौ अष्टादश त्रय एकविंशतिः ॥

कम्मक्खए हु खइओ भावो कम्मुवसमम्मि उवसमियो ।
उदयो जीवस्स गुणो खओवसमिओ हवे भावो ॥ २२ ॥

कर्मक्षये हि क्षयो भावः कर्मोपशमे उपशमकः ।
उदयो जीवस्य गुणः क्षयोपशमको भवेत् भावः ॥

कारणणिरवेक्खभवो सहावियो पारिणामिओ भावो ।
कम्मुदयजकम्मुगुणो ओदयियो होदि भावो हु ॥ २३ ॥

कारणनिरपेक्षभवः स्वाभाविकः पारिणामिको भावः ।
कर्मोदयजकर्मगुणः औदयिको भवति भावो हि ॥

केवलणाणं दंसण सम्मं चरियं च दाण लाहं च ।
भोगुवभोगवीरियमेदे णव खाइया भावा ॥ २४ ॥

केवलज्ञानं दर्शनं सम्यक्त्वं चारित्रं च दानं लाभश्च ।
भोगोपभोगवीर्यं एते नव क्षायिका भावाः ॥

उवसमसम्मं उवसमचरणं दुण्णेव उवसमा भावा।
चउणाणं तियदंसणमण्णाणतियं च दाणादी ॥ २५ ॥

उपशमसम्यक्त्वमुपशमचरणं द्वावेव उपशमौ भावौ ।
चतुर्ज्ञानं त्रिदर्शनं अज्ञानत्रिकं च दानादयः ॥

वेदग सरागचरियं देसजमं विणवमिस्सभावा हु ।
जीवत्तं भव्वत्तमभव्वत्तं तिण्णि परिणामो(मा) ॥ २६ ॥

वेदकं सरागचरितं देशयमं द्विनवमिश्रभावा हि ।
जीवत्वं भव्यत्वमभव्यत्वं त्रयः पारिणामिकाः ॥

ओदइओ खलु भावो गदिलेस्सकसायलिंगमिच्छत्तं ।
अण्णाणमसिद्धत्तं असंजमं चेदि इगिवीसं ॥ २७ ॥

औदयिकः खलु भावो गतिलेश्याकषायलिंगमिथ्यात्वं ।
अज्ञानमसिद्धत्वं असंयमश्चेति एकविंशतिः ॥

पंचेव मूलभावा उत्तरभावा हवंति तेवण्णा ।
एदे सव्वे भावा जीवसरूवा मुणेयव्वा ॥ २८ ॥

पंचैव मूलभावा उत्तरभावा भवन्ति त्रिपंचाशत् ।
एते सर्वे भावा जीवस्वरूपा मन्तव्याः ॥

उक्तं च—

मोक्षं कुर्वन्ति मिश्रौपशमिकक्षायिकाभिधाः ।
बन्धमौदयिको भावो निष्क्रियाः पारिणामिकाः ॥ १ ॥

बन्धमोक्षौ न कुर्वन्ति (इत्यर्थः) ।

मिच्छतिगऽयदचउक्के उवसमचउगम्हि खवगचउगम्हि
वेसु जिणेसु विसुद्धे णायव्वा मूलभावा हु ॥ २९ ॥

मिथ्यात्वत्रिकायतचतुष्के उपशमचतुष्के क्षपकचतुष्के ।
द्वयोर्जिनयोः विशुद्धा ज्ञातव्या मूलभावा हि ॥

खविगुवसमगेण विणा सेसतिभावा हु पंच पंचेव ।
उवसमहीणाचउरो मिस्सुवसमहीणतियभावा ॥ ३० ॥

क्षपकोपशकाभ्यां विना शेषत्रिभावा हि पंच पंचैव ।
उपशमहीनाश्चत्वारः मिश्रोपशमहीनात्रिकभावाः ॥

खयिगो हु पारिणामियभावो सिद्धे हवंति णियमेण ।
इत्तो उत्तरभावो कहियं जाणं गुणट्ठाणे ॥ ३१ ॥

क्षायिको हि परिणामिकभावः सिद्धे भवतः नियमेन ।
इत उत्तरभावं कथितं जानीहि गुणस्थाने ॥

अयदादिसु सम्मत्तति-सण्णाणतिगोहिदंसणं देसे ।
देसजमो छट्ठादिसु सरागचरियं च मणपज्जो ॥ ३२ ॥

अयदादिषु सम्यक्त्वत्रिसञ्ज्ञानत्रिकावधिदर्शनं देशे ।
देशयमः षष्ठादिषु सरागचारित्रं च मनःपर्ययः ॥

संते उवसमचरियं खीणे खाइयचरित्त जिण सिद्धे ।
खाइयभावा भणिया सेसं जाणेहि गुणठाणे ॥ ३३ ॥

शान्ते उपशमचरितं क्षीणे क्षायिकचरितं जिने सिद्धे ।
क्षायिकभावा भणिताः शेषं जानीहि गुणस्थाने ॥

ओदइया चक्खुदुगंऽण्णाणति दाणादिपंच परिणामा[1] ।
तिण्णेव सव्व मिलिदा मिच्छं चउतीसभावा हु ॥ ३४ ॥

औदयिकाः चक्षुर्द्विकं अज्ञानत्रिकं दानादिपंच परिणामाः ।
त्रय एव सर्वे मिलिता मिथ्यात्वे चतुस्त्रिंशद्भावाः स्फुटं ॥

दुग तिग णभ छ दुग णभ ति णभ विग[3]-त्ति दुग दुण्णि-
तेरं च । इगि अडछेदो भावस्सऽजोगिअंतेसु ठाणेसु ॥ ३५ ॥

द्विक-त्रिक-नभः-षट्-द्विक-नभः-त्रि-नभः-द्वित्रिक-द्विका-द्वौ-
त्रयोदश च । एकः अष्टौ छेदः भावस्यायोग्यन्तेषु स्थानेषु ॥

मिच्छे मिच्छमभव्वं सासणे अण्णाणतिदयसयदम्हि ।
किण्हादितिण्णि लेस्सा असंजमसुरणिरयगदिच्छेदो ३६ ॥

---

१ पारिणामिकाः । २ उक्तसंख्याक्रमेण चतुर्दशसु गुणस्थानेषु भावानां व्युच्छेदो ज्ञातव्य इत्यर्थः । ३ अनिवृत्तिगुणस्थानस्य द्वौ भागौ सवेदोऽवेदश्च तत्र वेदभागान्ते त्रयाणां वेदानां अवेदभागान्ते त्रयाणां क्रोधमानमायाकषायाणां व्युच्छेदः इत्यर्थः ।

मिथ्यात्वे मिथ्यात्वमभव्यत्वं साणेऽज्ञानत्रितयमयते ।
कृष्णादितिस्रो लेश्याः असंयममसुरनरकगतिच्छेदः ॥

देसगुणे देसजमो तिरियगदी अप्पमत्तगुणठाणे ।
तेऊपम्मालेस्सा वेदगसम्मत्तमिदि जाणे ॥ ३७ ॥

देशगुणे देशयमस्तिर्यग्गतिः अप्रमत्तगुणस्थाने ।
तेजःपद्मलेश्ये वेदकसम्यक्त्वमिति जानीहि ॥

अणियट्टिदुगदुभागे वेदतियं कोह माण मायं च ।
सुहमे सरागचरियं लोहो संते दु उवसमा भावा ॥ ३८ ॥

अनिवृत्तिद्विकाद्विभागे वेदत्रिकं क्रोधो मानो माया च ।
सूक्ष्मे सरागचारित्रं लोभः शान्ते तु उपशमौ भावौ ॥

खीणकसाए णाणचउक्कं दंसणतियं च अण्णाणं ।
पण दाणादि सजोगे सुक्कलेसे गवो छेदो ॥ ३९ ॥

क्षीणकषाये ज्ञानचतुष्कं दर्शनत्रिकं चाज्ञानं ।
पंच दानादयः सयोगे शुक्ललेश्याया गतः छेदः ॥

दाणादिचऊ भव्वमसिद्धत्तं मणुयगदि जहक्खादं ।
चारित्तमजोगिजिणे वुच्छेदो होंति भावे दो ॥ ४० ॥

दानादिचतुः भव्यत्वमासिद्धत्वं मनुष्यगतिः यथाख्यातं ।
चारित्रमयोगिजिने व्युच्छेदः भवतः भावौ द्वौ ॥

केवलणाणं दंसणमणंतविरियं च खइयसम्मं च ।
जीवत्तं चेदे पण भावा सिद्धे हवंति फुडं ॥ ४१ ॥

---

१ क्षपकोपशमकानिवृत्तिकरणद्वयस्य सवेदावेदभागद्वये । २ उपशमसम्यक्त्व चारित्राख्यौ ।

केवलज्ञानं दर्शनमनन्तवीर्यं च क्षायिकसम्यक्त्वं च।
जीवत्वं चैते पंच भावा सिद्धे भवन्ति स्फुटं॥

चदुतिगदुगछत्तीसं तिसु इगितीसं च अडडपणवीसं।
दुगइगिवीसं वीसं चउद्दस तेरस भावा हु॥ ४२॥

चतुस्त्रिकद्विकषट्त्रिंशत् त्रिषु एकत्रिंशच्च अष्टाष्टपंचविंशतिः।
द्विकैकविंशतिः विंशतिः चतुर्दश त्रयोदश भावा हि॥

उणइगिवीसं वीसं सत्तरसं तिसु य होंति बावीसं।
पणपणअट्ठावीसं इगदुगतिगणवयतीसतालसमभावा॥४३॥

एकान्नैकविंशतिः विंशतिः सप्तदश त्रिषु च भवन्ति द्वाविंशतिः
पंचपंचाष्टाविंशतिः एकद्विकत्रिकनवकत्रिंशच्चत्वारिंशद्भावाः॥

गुणस्थानत्रिभङ्गी समाप्ता।

सुयमुणिविणमियचलणं अणंतसंसारजलहिमुत्तिण्हं।
णमिऊण वड्ढमाणं भावे वोच्छामि वित्थारे॥ ४४॥

श्रुतमुनिविनतचरणं अनन्तसंसारजलधिमुत्तीर्णं।
नत्वा वर्धमानं भावान् वक्ष्यामि विस्तारे॥

आदिमणिरए भोगजतिरिए मणुवेसु सग्गदेवेसु।
वेदगखाइयसम्मं पज्जत्तापज्जत्तगाणमेव हवे॥ ४५॥

आदिमनरके भोगजतिरश्चि मनुजेषु स्वर्गदेवेषु।
वेदकक्षायिकसम्यक्त्वं पर्याप्तापर्यप्तकानामेव भवेत्॥

पढमुवसमसम्मत्तं पज्जते होदि चादुगदिगाणं।
विदिउवसमसम्मत्तं णरपज्जत्ते सुरअपज्जत्ते॥ ४६॥

१ मार्गणायां।

प्रथमोपशमसम्यक्त्वं पर्याप्ते भवति चातुर्गतिकानां ।
द्वितीयोपशमसम्यक्त्वं नरपर्याप्ते सुरापर्याप्ते ॥

सक्करपहुदीणरये वणजोइसभवणदेवदेवीणं ।
सेसत्थीणं पज्जत्तेसुवसम्मं वेदगं होइ ॥ ४७ ॥

शर्कराप्रभृतिनरके वाणज्योतिष्कभवनदेवदेवीनां ।
शेषस्त्रीणां पर्याप्तेषु उपशमं वेदकं भवति ॥

कम्मभूमिजतिरिक्खे वेदगसम्मत्तमुवसमं च हवे ।
सव्वेसिं सण्णीणं अपजत्ते णत्थि वेभंगो ॥ ४८ ॥

कर्मभूमिजतिरश्चि वेदकसम्यक्त्वमुपशमं च भवेत् ।
सर्वेषां संज्ञिनां अपर्याप्ते नास्ति विभंगः ॥

णिरये इयरगदी सुहलेसतिथीपुंसरागदेसजमं ।
मणपज्जवसमचरियं खाइयसम्मूणखाइया ण हवे ॥ ४९ ॥

नरके इतरगतयः शुभलेश्यात्रयस्त्रीपुंससरागदेशयमं ।
मनःपर्ययशमचारित्रं क्षायिकसम्यक्त्वोनक्षायिका न भवन्ति ॥

पढमदुगे कावोदा तदिए कावोदनील तुरिय अइनीला ।
पंचमणिरये नीला किण्णा य सेसगे किण्हा ॥ ५० ॥

प्रथमद्विके कापोता तृतीये कापोतनीले तुर्येऽतिनीला ।
पंचमनरके नीला कृष्णा च शेषके कृष्णा ॥

विदियादिसु छसु पुढविसु एवं णवरि असंजदट्ठाणे ।
खाइयसम्मं णत्थि हु सेसं जाणाहि पुव्वं व ॥ ५१ ॥

द्वितीयादिषु षट्सु पृथिवीषु एवं णवरि असंयतस्थाने ।
क्षायिकसम्यक्त्वं नास्ति हि शेषं जानीहि पूर्ववत् ॥

सामण्णणारयाणमपुणाणं घम्मणारयाणं च ।
वेभंगुवसमसम्मं ण हि सेसअपुण्णगे दु पढमगुणं[1] ॥५२॥

सामान्यनारकाणामपूर्णानां घम्मानारकाणां च ।
वेभंगोपशमसम्यक्त्वं न हि शेषापूर्णके तु प्रथमगुणस्थानं ।

इति नरक-रचना ।

सासणठिअऽणाणदुगं[2] असंजदठियकिण्हनीललेसदुगं ।
मिच्छमभव्वं च तहा मिच्छाइट्ठिम्मि वुच्छेदो ॥ ५३ ॥

सासादनस्थिताज्ञानद्विकं असंयतस्थितकृष्णनीललेश्याद्विकं ।
मिथ्यात्वमभव्यत्वं च तथा मिथ्यादृष्टौ व्युच्छेदः ॥

कम्मभूमिजतिरिक्खे अण्णगदीतिदयखाइया भावा ।
मणपज्जवसमचरणं सरागचरियं च णेवत्थि ॥ ५४ ॥

कर्मभूमिजतिरश्चि अन्यगातित्रितयक्षायिका भावाः ।
मनःपर्ययशमचरणं सरागचारित्रं च नैवास्ति ॥

तेसिमपज्जत्ताणं सण्णाणतिगोहिदंसणं च वेभंगं ।
वेदगमुवसमसम्मं देसचरित्तं च णेवत्थि ॥ ५५ ॥

तेषामपर्याप्तानां सज्ज्ञानत्रिकावधिदर्शनं विभंगः ।
वेदकमुपशमसम्यक्त्वं देशचारित्रं नैवास्ति ॥

---

१ अस्या अग्रेऽयं पाठः । विदियादिसु छसु पुढवीसु अपज्जत्तणेरइयाणं समसम्ममिच्छाइट्ठिगुणट्ठाणभावेसु वेभंगमवणीयं । तं जहा—वंसा जोगं २३ । मेघा २४ । अंजणा २३ । अरिट्ठा २४ । मघवीमाघवी जोगं २३ । सव्वत्थमिच्छाइट्ठिगुणट्ठाणमेगमेव । २ भोगभूमिजतिर्यङ्निर्वृत्यपर्याप्तस्य सासादनगुणे तत्रस्थमतिश्रुताज्ञानद्वयस्य असंयतस्थितकृष्णनीललेश्याद्विकस्य च व्युच्छेदः । इत्यस्याः पूर्वार्धगाथाया भावः ।

एवं भोगजतिरिए पुण्णे किण्हतिलेस्सदेसजमं ।
थीसंढं ण हि तेसिं खाइयसम्मत्तमत्थित्ति ॥ ५६ ॥
एवं भोगजतिरश्चि पूर्णे कृष्णत्रिलेश्यादेशसंयमं ।
स्त्रीपण्ढं न हि तेषां क्षायिकसम्यक्त्वमस्तीति ॥

णिव्वत्तिअपज्जत्ते अवणिय सुहलेस्स किण्हतिहजुत्ता ।
वेभंगुवसमसम्मं ण हि अयदे अवरकावोदा ॥ ५७ ॥
निर्वृत्यपर्याप्ते अपनीय शुभलेश्याः कृष्णत्रिकयुक्ताः ।
विभंगोपशमसम्यक्त्वं न हि अयते अवरकापोता ॥

लद्धिअपुण्णतिरिक्खे वामगुणट्ठाणभावमज्झम्मि ।
थीपुंसिदरगदीतिग सुहतियलेस्सा ण वेभंगो ॥ ५८ ॥
लब्ध्यपूर्णतिरश्चि वामगुणस्थानभावमध्ये ।
स्त्रीपुंसितरगतित्रिकं शुभत्रिकलेश्या न विभंगः ॥

भोगजतिरिइत्थीणं अवणिय पुंवेदमित्थिसंजुत्तं ।
तासिं वेदगसम्मं उवसमसम्मं च दो चेव ॥ ५९ ॥
भोगजतिर्यक्स्त्रीणां अपनीय पुंवेदं स्त्रीसंयुक्तं ।
तासां वेदकसम्यक्त्वं उपशमसम्यक्त्वं च द्वे चैव ॥

तासिमपज्जत्तीणं किण्हातियलेस्स हवंति पुण ।
ण सण्णाणतिगं ओही दंसणसम्मत्तजुगलवेभंगं ॥ ६० ॥
तासामपर्याप्तीनां कृष्णत्रिकलेश्या भवन्ति पुनः ।
न सज्ज्ञानत्रिकं अवधिदर्शनसम्यक्त्वयुगलविभंगं ॥

मणुवेसिदरगदीतियहीणा भावा हवंति तत्थेव ।
णिव्वत्तिअपज्जत्ते मणदेसुवसमणदुगं ण वेभंगं ॥ ६१ ॥

मनुष्येष्वितरगतित्रिकहीना भावा भवन्ति तत्रैव ।
निर्वृत्यपर्याप्तं मनोदेशोपशमनद्विकं न विभंगं ॥

साणे थीसंढच्छिदी मिच्छे साणे असंजदपमत्ते ।
जोगिगुणे दुगचदुचदुरिगिवीसं णवच्छिदी कमसो ॥ ६२ ॥

सासादने स्त्रीषंढच्छित्तिः मिथ्यात्वे सासादने असंयतप्रमत्ते ।
योगिगुणे द्विकचतुःचतुरेकविंशतिः नवच्छित्तिः क्रमशः ॥

लद्धिअपुण्णमणुस्से वामगुणट्ठाणभावमज्झम्हि ।
थीपुंसिदरगदीतियसुहतियलेस्सा ण वेभंगो ॥ ६३ ॥

लब्ध्यपूर्णमनुष्ये वामगुणस्थानभावमध्ये ।
स्त्रीपुंसितरगतित्रिकशुभत्रिकलेश्या न विभंगं ॥

मणुसुव्व दव्वभावित्थी पुंसंढखाइया भावा ।
उवसमसरागचरणं मणपज्जवणाणमवि णत्थि ॥ ६४ ॥

मनुष्यवद्द्रव्यभावस्त्रीषु पुंषण्ढक्षायिका भावाः ।
उपशमसरागचरणं मनःपर्ययज्ञानमपि नास्ति ॥

तासिमपज्जत्तीणं वेभंगं णत्थि मिच्छगुणठाणे ।
सासादणगुणठाणे पवट्टणं होदि नियमेण ॥ ६५ ॥

तासामपर्याप्तीनां विभंगं नास्ति मिथ्यात्वगुणस्थाने ।
सासादनगुणस्थाने प्रवर्तनं भवति नियमेन ॥

उवसमखाइयसम्मं तियपरिणामा खओवसमिएसु ।
मणपज्जवदेसजमं सरागचरिया ण सेस हवे ॥ ६६ ॥

उपशमक्षायिकसम्यक्त्वं त्रिकपरिणामाः क्षायोपशमिकेषु ।
मनःपर्ययदेशयमं सरागचारित्रं न शेषा भवन्ति ॥

ओदइए थी संढं अण्णगदीतिदयमसुहतियलेस्सं ।
अवणिय सेसा हुंति हु भोगजमणुवेसु पुण्णेसु ॥ ६७ ॥

औदयिके स्त्री पंढं अन्यगतित्रितयमशुभत्रिकलेश्याः ।
अपनीय शेषा भवन्ति हि भोगजमनुष्येषु पूर्णेषु ॥

तण्णिव्वत्तिअपुण्णे असुहतिलेस्सेव उवसमं सम्मं ।
वेभंगं ण हि अयदे जहण्णकावोदलेस्सा हु ॥ ६८ ॥

तन्निर्वृत्यपूर्णे अशुभत्रिलेश्या एव, उपशमं सम्यक्त्वं ।
विभंगं न हि अयते जघन्यकापोतलेश्या हि ॥

एवं भोगत्थीणं खाइयसम्मं च पुरिसवेदं च ।
ण हि थीवेदं विज्जदि सेसं जाणाहि पुव्वं व ॥ ६९ ॥

एवं भोगस्त्रीणां क्षायिकसम्यक्त्वं च पुरुषवेदं च ।
न हि, स्त्रीवेदो विद्यते शेषं जानीहि पूर्वमिव ॥

तदपज्जत्तीसु हवे असुहतिलेस्सा हु मिच्छदुगठाणं ।
वेभंगं च ण विज्जदि मणुवगदिणिरूविदा एवं ॥ ७० ॥

तदपर्याप्तिकासु भवेदशुभत्रिलेश्या हि मिथ्यत्वद्विकस्थानं ।
विभंगं च न विद्यते मनुष्यगतिर्निरूपिता एवं ॥

देवाणं देवगदी सेसं पज्जत्तभोगमणुसं वा ।
भवणतिगाणं कप्पित्थीणं ण हि खाइयं सम्मं ॥ ७१ ॥

देवानां देवगतिः शेषाः पर्याप्तभोगमनुष्यवत् ।
भवनत्रिकाणां कल्पस्त्रीणां न हि क्षायिकं सम्यक्त्वं ॥

भवणतिसोहम्मदुगे तेउजहण्णं तु मज्झिमं तेऊ ।
सणक्कुमारजुगले तेऊवर पम्मअवरं खु ॥ ७२ ॥

भवनत्रिकसौधर्मद्विके तेजोजघन्यं तु मध्यमं तेजः ।
सनत्कुमारयुगले तेजोवरं पद्मावरं खलु ॥

बह्माछक्के पम्मा सदरदुगे पम्मसुक्कलेस्सा हु ।
आणदतेरे सुक्का सुक्कुक्कसा अणुदिसादीसु ॥ ७३ ॥

ब्रह्मषट्के पद्मा सतारद्विके पद्मशुक्ललेश्ये हि ।
आनतत्रयोदशसु शुक्ला शुक्लोत्कृष्टा अनुदिशादिषु ॥

पुंवेदो देवाणं देवीणं होदि थीवेदं ।
भुवणतिगाण अपुण्णो असुहतिलेस्सेव णियमेण ॥ ७४ ॥

पुंवेदो देवानां देवीनां भवति स्त्रीवेदः ।
भुवनत्रिकानां अपूर्णे अशुभत्रिलेश्या एव नियमेन ॥

कप्पित्थीणमपुण्णे तेऊलेस्साए[1] मज्झिमो होदि ।
उभयत्थ ण वेभंगो मिच्छो सासणगुणो होदि ॥ ७५ ॥

कल्पस्त्रीणामपूर्णे तेजोलेश्यायाः मध्यमो भवति ।
उभयत्र न विभंगं मिथ्यात्वं सासादनगुणो भवति ॥

सोहम्मादिसु उवरिमगेविज्जंतेसु जाव देवाणं ।
णिव्वत्तिअपुण्णाणं ण विभंग पढमविदियतुरियठाणा॥७६॥

सौधर्मादिषु उपरिमग्रैवेयकान्तेषु यावद्देवानां ।
निर्वृत्यपूर्णानां न विभंगं प्रथमद्वितीयतुर्यस्थानानि ॥

अणुदिसु अणुत्तरेसु हि जादा देवा हवंति सद्दिट्ठी ।
तम्हा मिच्छमभव्वं अण्णाणतिगं च ण हि तेसिं ॥ ७७ ॥

अनुदिशेषु अनुत्तरेषु जाता देवा भवन्ति सद्दृष्टयः ।
तस्मान्मिथ्यात्वमभव्यत्वं अज्ञानत्रिकं च न हि तेषां ॥

---

१ अस्य यकारवद् ह्रस्वोच्चारः ।

इति गतिमार्गणा ।

एयक्खविगतिगक्खे तिरियगदी संढकिण्हतियलेस्सा ।
मिच्छकसायासंजमअणाणमसिद्धमिदि एदे ॥ ७८ ॥

एकाक्षद्वित्र्यक्षे तिर्यग्गतिः पंढकृष्णत्रिकलेश्याः ।
मिथ्यात्वकपायासंयमं अज्ञानमसिद्धमित्यंते ॥

दाणादिकुमदिकुसुदं अचक्खुदंसणमभव्वभव्वत्तं ।
जीवत्तं चेदेसिं चदुरक्खे चक्खुसंजुत्तं ॥ ७९ ॥

दानादिकुमतिकुश्रुतं अचक्षुर्दर्शनमभव्यत्वभव्यत्वे ।
जीवत्वं चैतेपां चतुरक्षे चक्षुःसंयुक्तम् ॥

पंचेंदिएसु तसकाइएसु दु सव्वे हवंति भावा हु ।
एयं[1] वा पणकाए ओराले णिरयदेवगदीहीणा ॥ ८० ॥

पंचेन्द्रियेपु त्रसकायिकेपु तु सर्वे भवन्ति भावा हि ।
एकं वा पंचकाये औदारिके नरकदेवगतिहीनाः ॥

ओरालं वा मिस्से ण हि वेभंगो सरागदेसजमं ।
मणपज्जवसमभावा साणे थीसंढवेदछिदी ॥ ८१ ॥

औदारिकवत् मिश्रे न हि विभंगं सरागदेशयमं ।
मनःपर्ययशमभावाः साने स्त्रीपंढवेदच्छित्तिः ॥

मिच्छाइट्ठिट्ठाणे सासणठाणे असंजदट्ठाणे ।
दुग चदु पणवीसं पुण संजोगठाणम्मि णवयछिदी ॥ ८२ ॥

मिथ्यादृष्टिस्थाने सासादनस्थाने असंयतस्थाने ।
द्वौ चत्वारः पंचविंशतिः पुनः सयोगस्थाने नवकच्छित्तिः ॥

वेगुव्वे णो संति हु मणपज्जुवसमसरागदेसजमं ।
खाइयसम्मत्तूणा खाइयभावा य तिरियमणुयगदी ॥ ८३ ॥

---

१ एकेन्द्रियवत् ।

वैगूर्वे नो सन्ति हि मनःपर्ययशमसरागदेशयमाः ।
क्षायिकसम्यक्त्वोनाः क्षायिकभावाश्च तिर्यग्मनुजगती ॥

वेगुव्वं वा मिस्से ण विभंगो किण्हदुगछिदी साणे ।
संढं णिरियगदिं पुण तम्हा अवणीय संजदे खयऊ ॥ ८४ ॥

विगूर्ववत् मिश्रे न विभंगं कृष्णाद्विकाच्छित्तिः साने ।
षंढं नरकगतिं पुनः तस्मादपनीय असंयते क्षिपतु ॥

आहारदुगे होंति हु मणुयगदी तह कसायसुहतिलेस्सा ।
पुंवेदमसिद्धत्तं अण्णाणं तिण्णि सण्णाणं ॥ ८५ ॥

आहारद्विके भवन्ति हि मनुष्यगतिः तथा कषायशुभत्रिलेश्याः ।
पुंवेदो सिद्धत्वं अज्ञानं त्रीणि सम्यग्ज्ञानानि ॥

दाणादियं च दंसणतिदयं वेदगसरागचारित्तं ।
खाइयसम्मत्तमभव्व ण परिणामाय भावा हु ॥ ८६ ॥

दानादिकं च दर्शनात्रिकं वेदकसरागचारित्रम् ।
क्षायिकसम्यक्त्वमभव्यत्वं न पारिणामिके भावा हि ॥

कम्मइये णो संति हु मणपज्जसरागदेसचारित्तं ।
वेभंगुवसमचरणं साणे थीवेदवोच्छेदो ॥ ८७ ॥

कार्मणे नो सन्ति हि मनःपर्ययसरागदेशचारित्राणि ।
विभंगोपशमचरणे साने स्त्रीवेदव्युच्छेदः ॥

विदियगुणे णिरयगदी णत्थि दु सा अत्थि अविरदे ठाणे ।
दुतिउगतीसं णवयं मिच्छादिसु चउसु वोच्छेदो ॥ ८८ ॥

द्वितीयगुणे नरकगतिः नास्ति तु सा अस्ति अविरते स्थाने ।
द्वित्र्येकान्नत्रिंशत् नवकं मिथ्यादिषु चतुर्षु व्युछेदः ॥

मज्झिमचउमणवयणे खाइयदुगहीणखाइया ण हवे ।
पुण सेसे मणवयणे सव्वे भावा हवंति फुडं ॥ ८९ ॥

मध्यमचतुर्मनोवचने क्षायिकद्विकहीनक्षायिका न भवन्ति ।
पुनः शेषे मनोवचने सर्वे भावा भवन्ति स्फुटं ॥

पुवेदे संढित्थीणिरयगदीहीणसेसओदइया ।
मिस्सा भावा तियपरिणामा खाइयसम्मत्तउवसमं सम्मं ॥९०॥

पुंवेदे पंढस्त्रीनरकगतिहीनशेषौदयिकाः । मिश्रा भावाः—
त्रिकपारिणामिकाः क्षायिकसम्यक्त्वमुपशमं सम्यक्त्वं ॥

इत्थीवेदे वि तहा मणपज्जवपुरिसहीणइत्थिजुदं ।
संढे वि तहा इत्थीदेवगदीहीणणिरयसंढजुदं ॥ ९१ ॥

स्त्रीवेदेऽपि तथा मनःपर्ययपुरुषहीनस्त्रीयुक्तं ।
षंढेऽपि तथा स्त्रीदेवगतिहीननरकपंढयुक्ताः ॥

कोहचउक्काणेक्के पगडी इदरा य उवसमं चरणं ।
खाइयसम्मत्तूणा खाइयभावा य णो संति ॥ ९२ ॥

क्रोधचतुष्काणां एका प्रकृतिः, इतराश्च उपशमं चरणं ।
क्षायिकसम्यक्त्वोनाः क्षायिकभावाश्च नो सन्ति ॥

एवं माणादितिए सुहुमसरागुत्ति होदि लोहो हु ।
अण्णाणतिए मिच्छा-इट्ठिस्स य होंति भावा हु ॥ ९३ ॥

एवं मानादित्रिके सूक्ष्मसराग इति भवति लोभो हि ।
अज्ञानत्रिके मिथ्यादृष्टेः च भवन्ति भावा हि ॥

केवलणाणं दंसण खाइणदाणादिपंचकं च पुणो ।
कुमइति मिच्छमभव्वं सण्णाणतिगम्मि णो संति ॥ ९४ ॥

केवलज्ञानं दर्शनं क्षायिकदानादिपंचकं च पुनः ।
कुमतित्रिकं मिथ्यात्वमभव्यत्वं संज्ञानत्रिके नो सन्ति ॥

मणपज्जे मणुवगदी पुवेदसुहतिलेस्सकोहादी ।
अण्णाणमसिद्धत्तं णाणति दंसणति च दाणादी ॥ ९५ ॥

मनःपर्यये मनुष्यगतिः पुंवेदशुभत्रिलेश्याक्रोधादयः ।
अज्ञानमसिद्धत्वं ज्ञानत्रिकं दर्शनत्रिकं च दानादयः ॥

वेदगखाइयसम्मं उवसमखाइयसरागचारित्तं ।
जीवत्तं भव्वत्तं इदि एदे संति भावा हु ॥ ९६ ॥

वेदकक्षायिकसम्यक्त्वं उपशमक्षायिकसरागचारित्रं ।
जीवत्वं भव्यत्वमित्येते सन्ति भावा हि ॥

केवलणाणे खाइयभावा मणुवगदी सुक्कलेस्साइ ।
जीवत्तं भव्वत्तमसिद्धत्तं चेदि चउदसा भावा ॥ ९७ ॥

केवलज्ञाने क्षायिकभावा मनुष्यगतिः शुक्लेश्या ।
जीवत्वं भव्यत्वमसिद्धत्वं चेति चतुर्दश भावाः ॥

ओदइया भावा पुण णाणति दंसणतियं च दाणादी ।
सम्मत्तति अण्णाणति परिणामति य असंजमे भावा ॥९८॥

औदयिका भावाः पुनः ज्ञानत्रिकं दर्शनत्रिकं च दानादयः ।
सम्यक्त्वत्रिकं अज्ञानत्रिकं पारिणामिकत्रिकं च असंयमे भावाः॥

देसजमे सुहलेस्सतिवेदतिणरतिरियगदिकसाया हु ।
अण्णाणमसिद्धत्तं णाणतिदंसणतिदेसदाणादी ॥ ९९ ॥

देशयमे शुभलेश्यात्रिवेदत्रिनरकातिर्यगतिकषाया हि ।
अज्ञानमसिद्धत्वं ज्ञानत्रिकदर्शनत्रिकदेशदानादयः ॥

---

१ 'भावा हु' पाठः पुस्तके । वारद्वयं लिखितेयं गाथा पुस्तके तत्र एकस्मिन् स्थाने हुर्नास्ति ।

जीवत्तं भव्वत्तं सम्मत्ततियं सामाइयदुगे एवं ।
तिरियगदिदेसहीणा मणपज्जवसरागजमसहियं ॥१००॥

जीवत्वं भव्यत्वं सम्यक्त्वत्रिकं सामायिकद्विके एवं ।
तिर्यगतिदेशहीना मनःपर्ययसरागयमसहिताः ॥

एवं परिहारे मण-पज्जवथीसंढहीणया एवं ।
सुहमे मणजुद हीणा वेदतिकोहतिदयतेयदुगा ॥ १०१ ॥

एवं परिहारे मनःपर्ययस्त्रीपंढहीनका एवं ।
सूक्ष्मे मनोयुक्ता हीना वेदत्रिकक्रोधत्रितयतेजोद्विकाः ॥

जहखाइए वि एदे सरागजमलोहहीणभावा हु ।
उवसमचरणं खाइयभावा य हवंति णियमेण ॥ १०२ ॥

यथाख्यातेऽपि एते सरागयमलोभहीनभावा हि ।
उपशमचरणं क्षायिकभावाश्च भवन्ति नियमेन ॥

चक्खुजुगे आलोए खाइयसम्मत्तचरणहीणा दु ।
सेसा खाइयभावा णो संति हु ओहिदंसणे एवं ॥ १०३ ॥

चक्षुर्युगे आलोके क्षायिकसम्यक्त्वहीनास्तु ।
शेषाः क्षायिकभावा नो सन्ति हि अवधिदर्शने एवं ॥

तेसिं मिच्छमभव्वं अण्णाणतियं च णत्थि णियमेण ।
केवलदंसण भावा केवलणाणेव णायव्वा ॥ १०४ ॥

तेषां मिथ्यात्वं अभव्यत्वं अज्ञानत्रिकं च नास्ति नियमेन
केवलदर्शने भावा केवलज्ञानवत् ज्ञातव्याः ॥

किण्हतिये सुहलेस्सति मणपज्जुवसमसरागदेसजमं ।
खाइयसम्मत्तूणा खाइयभावा य णो संति ॥ १०५ ॥

कृष्णात्रिके शुभलेश्यात्रिकमनःपर्ययशमसरागदेशयमाः
क्षायिकसम्यक्त्वोनाः क्षायिकभावाश्च नो सन्ति ॥

ण हि णिरयगदी किण्हति सुक्कं उवसमचरित्त तेउदुगे।
खाइयदंसणणाणं चरित्ताणि हु खइयदाणादी ॥ १०६ ॥

न हि नरगतिः कृष्णत्रिकं शुक्लं उपशमचारित्रं तेजोद्विके।
क्षायिकदर्शनज्ञानं चारित्रं हि क्षायिकदानादयः ॥

णो संति सुक्कलेस्से णिरयगदी इयरपंचलेस्सा हु।
भव्वे सव्वे भावा मिच्छट्ठाणम्हि अभव्वस्स ॥ १०७ ॥

नो सन्ति शुक्ललेश्यायां नरकगतिः इतरपंचलेश्या हि।
भव्ये सर्वे भावा मिथ्यदृष्टिस्थाने अभव्यस्य ॥

मिच्छरुचिम्हि य जी(भा)वा चउतीसा सासणम्हि बत्तीसा।
मिस्सम्हि दु तित्तीसा भावा पुव्वत्तपरिणामा ॥ १०८ ॥

मिथ्यारुचौ च भावा चतुस्त्रिंशत् सासने द्वात्रिंशत्।
मिश्रे तु त्रयस्त्रिंशत् भावाः पूर्वोक्तपरिणामाः ॥

मिच्छमभव्वं वेदगमण्णाणतियं च खाइया भावा।
ण हि उवसमसम्मत्ते सेसा भावा हवंति तहिं ॥ १०९ ॥

मिथ्यात्वमभव्यं वेदकमज्ञानत्रिकं च क्षायिका भावाः।
न हि उपशमसम्यक्त्वे शेषा भावा भवन्ति तत्र ॥

उवसमभावूणेदे वेदगभावा हवंति एदेसिं।
अवणिय वेदगमुवसमजमखाइयभावसंजुत्ता ॥ ११० ॥

उपशमभावोना एते वेदकभावा भवन्ति एतेषां।
अपनीय वेदकं उपशमयमक्षायिकभावसंयुक्ताः ॥

खाइयसम्मत्तेदे भावा ससहम्मि ? केवलं णाणं।
दंसण खाइयदाणादिया ण हवंति णियमेण ॥ १११ ॥

क्षायिकसम्यक्त्वे एते भावाः संज्ञिनि केवलं ज्ञानं।
दर्शनं क्षायिकदानादिका न भवन्ति नियमेन ॥

तिरियगदि लिंगमसुहतिलेस्सकसायासंजममसिद्धं ।
अण्णाणं मिच्छत्तं कुमइदुगं चक्खुदुगं च दाणादी ॥११२॥
तिर्यग्गतिः लिङ्गं अशुभत्रिकलेश्याकषायासंयमा असिद्धत्वम् ।
अज्ञानं मिथ्यात्वं कुमतिद्विकं चक्षुर्द्विकं च दानादयः ॥

तियपरिणामा एदे असण्णिजीवस्स संति भावा हु ।
आहारेऽखिलभावा मणपज्जवसमसरागदेसजमं ॥ ११३ ॥
त्रिकपारिणामिका एते असंज्ञिजीवस्य सन्ति भावा हि ।
आहारेऽखिलभावा मनःपर्ययशमसरागदेशयमं ॥

वेभंगमणाहारे णो संति हु सेसभावगणणा य ।
विच्छित्ति गुणट्ठाणा कम्मणकायम्हि वणीदव्वा ॥११४॥
विभंगमनाहारे नो संति हि शेषभावगणना च ।
विच्छित्तिः गुणस्थानानि कार्मणकाये वर्णितव्यानि ॥

अरहंतसिद्धसाहूतिदयं जिणधम्मवयणपडिमाओ ।
जिणणिलया इदि एदे णव देवा दिंतु मे बोहिं ॥ ११५ ॥
अर्हत्सिद्धसाधुत्रितयं जिनधर्मवचनप्रतिमाः ।
जिननिलया इत्येते नव देवा ददतु मे बोधिं ॥

इदि गुणमग्गणठाणे भावा कहिया पबोहसुयमुणिणा ।
सोहंतु ते मुणिंदा सुयपरिपुण्णा दु गुणपुण्णा ॥ ११६ ॥
इति गुणमार्गणास्थाने भावा कथिता प्रबोधश्रुतमुनिना ।
शोधयन्तु तान् मुनीन्द्राः श्रुतपरिपूर्णास्तु गुणपूर्णाः ॥

इति मुनि-श्रीश्रुतमुनि-कृता भावत्रिभंगी*

समाप्ता ।

---

*'भावसंग्रहः समाप्तः' इति पुस्तकान्ते पाठः । प्रारंभे उल्लिखितनामानुसारेण परिवर्तितः ।

अथ संदृष्टि-रचना।

गुणस्थान रचना।

मि.	सा.	मि.	अ.	दे.	प्र.	अ.	अपू.	अ.	अ.	सू.	उप.	क्षी.	स.	अयो.
२	३	०	६	२	०	३	०	३	३	२	२	१३	१	८
३४	३२	३३	३६	३१	३१	३१	२८	८	२५	२२	२१	२०	१४	१३
१९	२१	२०	२७	२२	२२	२२	२५	२५	२८	३१	३२	३३	३९	४०

सामान्य नरक-रचना ३३

मि.	सा.	मि.	अ.
२	३	०	५
२६	२८	२५	२८
७	९	८	५

नारकापर्याप्त ३१

मि.	अ.
६	३
२५	२५
६	६

घम्मा ३१

मि.	सा.	मि.	अ.
२	३	०	३
२४	२२	२३	२६
७	९	८	५

अपर्याप्त। २९

मि.	अ.
४	३
२३	२५
६	४

वंशा ३०

मि.	सा.	मि.	अ.
२	३	०	३
२४	२२	२३	२५
६	८	७	५

मेघा ३१

मि.	सा.	मि.	अ.
२	३	०	४
२५	२३	२४	२६
६	८	७	५

अंजना ३०

मि.	सा	मि.	अ.
२	३	०	३
२४	२२	२३	२५
६	८	७	५

अरिष्टा

३१

मि.	सा.	मि.	अ.
२	३	०	४
२५	२३	२४	२६
६	८	७	५

मघवी-माघवी

३०

मि.	सा.	मि.	अ.
२	३	०	३
२४	२२	२३	२५
६	८	७	५

षण्णारकापर्याप्त

मि.
०
२३
०

कर्मभूमिजतिर्यग्

३८

मि.	सा.	मि.	अ.	दे.
२	३	०	४	२
३१	२९	३०	३२	२९
७	९	८	६	९

तदपर्याप्ता

३०

मि.	सा.
२	२
३०	२८
०	२

भोगभूमिजतिर्यग

३३

मि.	सा.	मि.	अ.
२	३	०	२
२६	२४	२५	२८
७	९	८	५

तदपर्याप्त

३१

मि.	सा.	अ.
२	४	३
२५	२३	२५
६	८	६

ल० अ.

२५

मि.
०
२५
०

भोगभूमिजतिरश्ची

३२

मि.	सा.	मि.	अ.
२	३	०	२
२६	२४	२५	२७
६	८	७	५

तदपर्याप्त

२५

मि.	सा
२	२
२५	२३
०	२

मनुष्य-रचना

५०

मि.	सा.	मि.	अ.	दे.	प्र.	अ.	अ.	अ.	अ.	सू.	उ.	क्षी.	स.	अ.
२	३	०	४	१	०	३	०	३	३	२	२	१३	१	८
३१	२९	३०	३३	३०	३१	३१	२८	२८	२५	२२	२१	२०	१४	१३
१९	२१	२०	१७	२०	१९	१९	२२	२२	२५	२८	२९	३०	३६	३७

निर्वृत्तिमनुष्य

४५

मि.	सा.	अ.	प्र.	स.
२	४	४	२१	९
३०	२८	३०	२७	१४
१५	१७	१५	१८	३१

मनुष्य-स्त्री

३६

मि.	सा.	मि.	अ.	दे.
२	३	०	४	१
२९	२५	२८	३०	२७
७	९	८	६	९

म. अपर्याप्तः

२८

मि.	सा.
२	२
२८	२६
०	२

अ. म.

२५

मि.
०
२५
०

भोगभूमिमनुष्य

३३

मि.	सा.	मि.	अ.
२	३	०	१
२६	२४	२५	२८
७	९	८	५

तदपर्याप्त

३१

मि.	सा.	अ.
३	४	२
२५	२३	२५
६	८	६

भोगभूमिज-स्त्री

३२

मि.	सा.	मि.	अ.
२	३	०	१
२६	२४	२५	२७
६	८	७	५

त. प.

२५

मि.	सा.
२	२
२५	२३
०	०

सामान्यदेव

३३

मि.	सा.	मि.	अ.
२	३	०	२
२६	२४	२५	२८
७	९	८	५

भवनत्रिकल्पस्त्री

३०

मि.	सा.	मि.	अ.
२	३	०	२
२४	२२	२३	२५
६	८	७	५

भ. स्त्री. अ.

२५

मि.	सा.
२	२
२५	२३
०	२

क. स्त्री. अ.

२३

मि.	सा.
२	२
२३	२१
०	२

सौधर्मैशानदेव

३१

मि.	सा.	मि.	अ.
२	३	०	२
२४	२२	२३	२६
७	९	८	५

तद्पर्याप्त

३०

मि.	सा.	अ.
२	२	२
२३	२१	२६
७	९	४

सानत्कुमारमाहेन्द्र

३२

मि.	सा.	मि.	अ.
२	३	०	२
२५	२३	२४	२७
७	९	८	५

तद्पर्याप्त

३१

मि.	सा.	अ.
२	२	२
२४	२२	२७
७	९	४

ब्रह्मादिषट्

३१

मि.	सा.	मि.	अ.
२	३	०	२
२४	२२	२३	२६
७	९	८	५

तद्पर्याप्त

३०

मि.	सा.	अ.
२	२	२
२३	२१	२६
७	९	४

शतारसहस्रार

३२

मि.	सा.	मि.	अ.
२	३	०	२
२५	२३	२४	२७
७	९	८	५

तद्पर्याप्त

२९

मि.	सा.	अ.
२	२	२
२२	२७	२४
७	९	४

आनतादिरचना १३, तदपर्याप्त अनु. १४, एकद्वित्रीन्द्रिय, च.

३१

मि.	सा.	मि.	अ.
२	३	०	२
२४	२२	२३	२६
७	९	८	५

३०

मि.	सा.	अ.
२	२	२
२३	२१	२६
७	९	४

२६

अ.
०
२६
०

२४

मि.	सा.
२	०
२४	२२
०	२

२५

मि.	सा.
२	०
२५	२३
०	२

पंचेन्द्रियेषु त्रसकायेषु च

५३

मि.	सा.	मि.	अ.	दे.	प्र.	अ.	अ.	अ.	अ.	सू	उ.	क्षी.	स.	अ.
२	३	०	६	२	०	३	०	३	३	२	२	१३	१	८
३४	३२	३३	३६	३१	३१	३१	२८	२८	२५	२२	२१	२०	१४	१३
१९	२१	२०	१७	२२	२२	२२	२५	२५	२८	३१	३२	३३	३९	४०

पृ. अ. व.

२४

मि.	सा.
२	२
२४	२२
०	२

ते. वा.

२४

मि.
२
२४
०

औदारिककाययोगेषु

५१

मि	सा.	मि.	अ.	दे.	प्र.	अ.	अ.	अ.	अ.	सू.	उ.	क्षी.	स.
२	३	०	४	२	०	३	०	३	३	२	२	१३	९
३२	३०	३१	३४	३१	३१	३१	२८	२८	२५	२२	२१	२०	१४
१९	२१	२०	१७	२०	२०	२०	२३	२३	२६	२९	३०	३१	३७

औदारिक-मिश्र

४५

मि.	सा.	अ.	स.
२	४	२५	९
३१	२९	३१	१४
१४	१६	१४	३१

वैक्रियिक-योग

३९

मि.	सा.	मि.	अ.
२	३	०	६
३२	३०	३१	३४
७	९	८	५

तद्पर्याप्त आ० योग ।

३८

मि.	सा.	अ.
२	४	०
३१	२७	३२
७	५१	६

२७

प्र.
६
२७
०

कार्मणयोग.

४८

मिं.	सा.	अ.	स.
२	३	२९	९
३३	३०	३५	१४
१५	१८	१३	३४

सत्यानुभय-मनोवचन ।

५१

मि.	सा.	मि.	अ.	दे.	प्र.	अ.	अ.	अ.	अं.	सूं.	उ.	क्षीं.	स.
२	३	०	६	२	०	३	०	३	३	२	२	१३	९
३४	३२	३३	३६	३१	३१	३१	२८	२८	२५	२२	२१	२०	१४
१९	२१	२०	१७	२२	२२	२२	२५	२५	२८	३१	३२	३३	३९

असत्योभयमनोवचन ।

४६

मि.	सा.	मि.	अ.	दे.	प्र.	अ.	अ.	अ.	अ	सू.	उ.	क्षी.
२	३	०	६	२	०	३	०	३	३	१	२	१३
३४	३२	३३	३६	३१	३१	३१	२८	२८	२५	२२	२१	२०
१२	१४	१३	१०	१५	१५	१५	१८	१८	२१	२४	२५	२६

पुंवेदरचना ।

४१

मि.	सा.	मि.	अ.	द.	प्र.	अ.	अ.	अ.	अ.
२	३	०	५	२	०	३	०	१	३
१	२९	३०	३३	२९	२९	२९	२६	२६	२५
१०	१२	२१	८	१२	१२	१२	१५	१५	१६

स्त्रीवेदरचना ।

४०

मि.	सा.	मि.	अ.	दे.	प्र.	अ.	अ.	अ.	अ.
२	३	०	५	२	०	३	०	१	३
३१	२९	३०	३३	२९	२८	२८	२५	२५	२४
९	११	१०	७	११	१२	१२	१५	१५	१६

नपुंसकवेदरचना ।

४०

मि.	सा.	मि.	अ.	दे.	प्र.	अ.	अ.	अ.	अ.
२	३	०	५	२	०	३	०	१	३
३१	२९	३०	३३	२९	२८	२८	२५	२५	२४
९	११	१०	७	११	१२	१२	१५	१५	१६

क्रोधमानमायारचना ।

४०

मि.	सा.	मि.	अ.	दे.	प्र.	अ.	अ.	अ.	अ.
२	३	०	६	२	०	३	०	३	१
३१	२९	३०	३३	२८	२८	२८	२५	२५	२२
९	११	१०	७	११	१२	१२	१५	१५	१६

लोभरचना ।

४१

मि.	सा.	मि.	अ.	दे.	प्र.	अ.	अ.	अ.	अ.	सू.
२	३	०	६	२	०	३	०	३	०	२
३१	२९	३०	३३	२८	२८	२८	२५	२५	२२	२२
१०	१२	११	८	१३	१३	१३	१६	१६	१९	१९

अज्ञानत्रय

३४

मि.	सा.
२	३
३४	३२
०	२

सम्यग्ज्ञानत्रय

४१

अ.	दे.	प्र.	अ.	अ.	अ.	अ.	सू.	उ.	क्षी.
६	२	०	३	०	३	३	२	२	१२
३६	३१	३१	३१	२८	२८	२५	२२	२१	२०
५	१०	१०	१०	१३	१३	१६	१९	२०	२१

मनःपर्यय

३०

प्र	अ	अ.	अ.	अ.	सू.	उ.	क्षी.
०	३	०	१	३	२	१	१२
२८	२८	२५	२५	२४	२१	२०	२०
२	२	५	५	६	९	१०	१०

केवल

१४

स.	अ.
१	०
१४	१३
०	१

असंयम

४१

मि.	सा.	मि.	अ.
२	३	०	६
३४	३२	३३	३६
७	९	८	५

देश

३१

दे.
०
३१
०

सामायिक छे० ३१

प्र.	अ.	अ.	अ.	अ.
०	३	०	३	३
३१	३१	२८	२८	२५
०	०	३	३	६

परिहार २८

प्र.	अ.
०	३
२८	२८
०	०

सूक्ष्म० २२

सू.
०
२२
०

यथाख्यात २९

उ.	क्षी.	स.	अ.
२	१३	१	८
२१	२०	१४	१३
८	९	१५	१६

चक्षुरचक्षुदर्शन

४६

मि.	सा.	मि.	अ.	दे.	प्र.	अ.	अ.	.अ	अ.	सू.	उ.	क्षी.
२	३	०	६	२	०	३	०	३	३	२	२	१३
३४	३२	३३	३६	३१	३१	३१	२८	२८	२५	२२	२१	२०
१२	१४	१३	१०	१५	१५	१५	१८	१८	२१	२४	२५	२६

अवधिदर्शन ४१

अ.	दे.	प्र.	अ.	अ.	अ.	अ.	सू.	उ.	क्षी.
६	२	०	३	०	३	३	२	२	१३
३६	३१	३१	३१	२८	२८	२५	२२	२१	२०
५	१०	१०	१०	१३	१३	१६	१९	२०	२१

केवलदर्शन १४

स.	अ.
१	८
१४	१३
०	१

कृष्णत्रय

३८

मि.	सा.	मि.	अ.
२	४	०	५
३१	२९	२९	३२
७	९	९	६

पीतपद्म

३९

मि.	सा.	मि	अ.	दे.	प्र.	अ.
२	३	०	२	२	०	३
२९	२७	२८	३१	३०	३०	३०
१०	१२	११	८	९	९	९

शुक्ललेश्या

४७

मि.	सा.	मि.	अ.	दे.	प्र.	अ.	अ.	अ.	अ.	सू.	उ.	क्षी.	स.
२	३	०	२	२	०	१	०	३	३	२	२	१३	९
२८	२६	२७	३०	२९	२९	२९	२८	२८	२५	२२	२१	२०	१४
१९	२१	२०	१७	१८	१८	१८	१९	१९	२२	२५	२६	२७	३३

भव्य

५२

मि.	सा.	मि.	अ.	दे.	प्र.	अ.	अ.	अ.	अ.	सू.	उ.	क्षी.	स.	अ.
२	३	०	६	२	०	३	०	३	३	२	२	१३	१	८
३४	३२	३३	३६	३१	३१	३१	२८	२८	२५	२२	२१	२०	१४	१३
१९	२१	२०	१७	२२	२२	२२	२५	२५	२८	३१	३२	३३	३९	४०

अभव्य

३४

मि.
०
३४
०

मि.

३४

मि.
०
३४
०

सा.

३२

सा.
०
३२
०

मि.

३२

मि.
०
३३
०

उपशम

३८

अ.	दे.	प्र.	अ.	अ.	अ.	सू.	उ.
६	२	०	२	०	३	३	२
३४	२९	२९	२९	२७	२४	२१	२०
४	९	९	९	११	१४	१७	१८

वेदक
३७

अ.	दे.	प्र.	अ.
६	२	०	३
३४	२९	२९	२९
३	८	८	८

क्षायिक
४६

अ.	दे.	प्र.	अ.	अ.	अ.	अ.	सू.	उ.	क्षी.	स.	अ.
६	२	०	२	८	३	२	२	१	१३	१	८
३४	२९	२९	२९	२७	२७	२४	२१	२०	२०	१४	१३
१२	१७	१७	१७	१९	१९	२२	२५	२६	२६	३२	३२

संज्ञिरचना.
४६

मि.	सा.	मि.	अ.	दे.	प्र.	अ.	अ.	अ.	अ.	सू.	उ.	क्षी.
२	३	०	६	२	०	३	०	३	३	२	२	१३
३४	३२	३३	३६	३१	३१	३१	२८	२८	२५	२२	२१	२०
१२	१४	१३	१०	१५	१५	१५	१८	१८	२१	२४	२५	२६

असंज्ञिर.
२७

मि.	सा.
२	२
२७	२५
०	२

आहारकरचना.
३३

मि.	सा.	मि.	अ.	दे.	प्र.	अ.	अ.	अ.	अ.	सू	उ.	क्षी.	स.
२	३	०	६	२	०	३	०	३	३	२	२	१३	१
३४	३२	३३	३६	३१	३१	३१	२८	२८	२५	२२	२१	२०	१४
१९	२१	२०	१७	२२	२२	२२	२५	२५	२८	३१	३२	३३	३९

अनाहरक.
४६

मि.	सा.	अ.	स.
२	३	२९	९
३३	२०	३५	१४
१५	१८	१३	३४

इति संदृष्टि रचना समाप्ता ।

इति भाव-त्रिभङ्गी समाप्ता ।

श्री-श्रुतमुनि-विरचिता

आस्रव-त्रिभङ्गी ।



संदृष्टि-सहिता ।

पणमिय सुरेंदपूजियपयकमलं वड्ढमाणममलगुणं ।
पच्चयसत्तावण्णं वोच्छे हं सुणह भवियजणा ॥ १ ॥

प्रणम्य सुरेन्द्रपूजितपदकमलं वर्धमानं अमलगुणं ।
प्रत्ययसप्तपंचाशत् वक्ष्येऽहं शृणुत भव्यजनाः ! ॥

मिच्छत्तं अविरमणं कसाय जोगा य आसवा होंति ।
पण बारस पणवीसा पण्णरसा होंति तब्भेया ॥ २ ॥

मिथ्यात्वमविरमणं कषाया योगाश्च आस्रवा भवन्ति ।
पंच द्वादश पंचविंशतिः पंचदश भवन्ति तद्भेदाः ॥

मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्दहणं तु तच्चअत्थाणं ।
एयंतं विवरीयं विणयं संसयिदमण्णाणं ॥ ३ ॥

मिथ्यात्वोदयेन मिथ्यात्वमश्रद्धानं तु तत्वार्थानां ।
एकान्तं विपरीतं विनयं संशयितमज्ञानम् ॥

छस्सिंदिएसुऽविरदी छज्जीवे तह य अविरदी चेव ।
इंदियपाणासंजम दुदसं होदित्ति णिद्दिट्ठं ॥ ४ ॥

षट्स्विन्द्रियेष्वविरतिः षड्जीवेषु तथा चाविरतिश्चैव ।
इन्द्रियप्राणासंयमा द्वादश भवन्तीति निर्दिष्टं ॥

अणमप्पचक्खाणं पच्चक्खाणं तहेव संजलणं ।
कोहो माणो माया लोहो सोलस कसायेदे ॥ ५ ॥

अनमप्रत्याख्यानः प्रत्याख्यानः तथैव संज्वलनः ।
क्रोधो मानो माया लोभः षोडश कषाया एते ॥

हस्स रदि अरदि सोयं भयं जुगंछा य इत्थिपुंवेयं ।
संढं वेयं च तहा णव एदे णोकसाया य ॥ ६ ॥

हास्यं रतिः अरतिः शोकः भयं जुगुप्सा च स्त्री-पुंवेदौ ।
षंढो वेदः च तथा नवैते नोकषायाश्च ॥

मणवयणाण पउत्ती सच्चासच्चुभयअणुभयत्थेसु ।
तण्णामं होदि तदा तेहिं दु जोगा हु तज्जोगा ॥ ७ ॥

मनोवचनानां प्रवृत्तिः सत्यासत्योभयानुभयार्थेषु ।
तन्नाम भवति तदा तैस्तु योगाद्धि तद्योगाः ॥

ओरालं तंमिस्सं वेगुव्वं तस्स मिस्सयं होदि ।
आहारय तंमिस्सं कम्मइयं कायजोगेदे ॥ ८ ॥

औदारिकं तन्मिश्रं वैक्रियिकं तस्य मिश्रकं ।
आहारकं तन्मिश्रं कार्मणकं काययोगा एते ॥

मिच्छे खलु मिच्छत्तं अविरमणं देससंजदो त्ति हवे ।
सुहुमो त्ति कसाया पुण सजोगिपेरंत जोगा हु ॥ ९ ॥

---

१ अनन्तानुबन्धि । २ इति यावदर्थे ।

३ चदुपच्चइगो मिच्छे बंधो पढमे णंतरतिगे तिपच्चइगो ।
मिस्सगविदियं उवरिमदुगं च देसेयकदेसम्मि ॥ १ ॥
उवरिल्लपंचये पुण दुपच्चया जोगपच्चओ तिण्हं ।
सामण्णपच्चया खलु अट्ठण्हं होंति कम्माणं ॥ २ ॥

मिथ्यात्वे खलु मिथ्यात्वं अविरमणं देशसंयतमिति भवेत् ।
सूक्ष्ममिति कषायाः पुनः सयोगिपर्यन्तं योगा हि ॥

मिच्छदुगविरदठाणे मिस्सदुकम्मइयकायजोगा य ।
छट्ठे हारदु केवलिणाहे ओरालमिस्सकम्मइया ॥ १० ॥

मिथ्यात्वद्विकाविरतस्थाने मिश्रद्विककार्मणकाययोगाश्च ।
षष्ठे आहारद्विकं केवलिनाथे औदारिकमिश्रकार्मणाः ॥

पंच[1] चदु सुण्ण सत्त य पण्णर दुग सुण्ण छक्क छक्केक्कं ।
सुण्णं चदु सगसंखा पच्चयविच्छित्ति णायव्वा ॥ ११ ॥

पंच चतुः शून्यं सप्त च पंचदश द्वौ शून्यं षट्कं षट्कैकं[2] एकं ।
शून्यं चतुः सप्तसंख्या प्रत्ययविच्छित्तिः ज्ञातव्या ॥

मिच्छे हारदु सासणसम्मे मिच्छत्तपंचकं णत्थि ।
अण दो मिस्सं कम्मं मिस्से ण चउत्थए सुणह ॥ १२ ॥

मिथ्यात्वे आहारकद्विकं सासादनसम्यक्त्वे मिथ्यात्वपंचकं नास्ति ।
अनः[3] द्वे मिश्रे[4] कर्म मिश्रे न चतुर्थे शृणुत ॥

दो मिस्स कम्म खित्तय तसवह वेगुव्व तस्स मिस्सं च ।
ओरालमिस्स कम्ममपच्चक्खाणं तु ण हि पंचे ॥ १३ ॥

द्वे मिश्रे कर्म क्षिप, त्रसवधो वैक्रियिकं तस्य मिश्रं च ।
औदारिकमिश्रं कर्माप्रत्याख्यानं तु न हि पंचमे ॥

---

१ अत्र केशववर्णिनोक्तगाथा—

पण चदु सुण्णं णवयं पण्णरस दोण्णि सुण्ण छक्कं च ।
एक्केक्कं दस जाव य एक्कं सुण्णं च चारि सग सुण्णं ॥ १ ॥

२ अनिवृत्तिकरणगुणस्थानस्य षड्भागास्तत्र एकैकस्मिन् भागे एकैक आस्रवो व्युच्छिद्यते क्रमेण । ३ अनन्तानुबन्धिचतुष्कं ४ औदारिकवैक्रियिकाख्ये मिश्रे ।

इत्तो उवरिं सगसगविच्छित्तिअणासवाण संजोगे ।
उवरुवरिं गुणठाणे होंतित्ति अणासवा णेया ॥ १४ ॥

इतः उपरि स्वस्वविच्छित्त्यास्रवाणां संयोगे ।
उपर्युपरि गुणस्थाने भवन्तीति अनास्रवा ज्ञेयाः ॥

मिच्छे[1] पणमिच्छत्तं साणे अणचारि मिस्सगे सुण्णं ।
अयदे विदियकसाया तसवह वेगुव्वजुगलछिदी ॥ १५ ॥

मिथ्यात्वे पंचमिथ्यात्वं, साने अनचतुष्कं मिश्रके, शून्यं, ।
अयते द्वितीयकषायाः त्रसवधवैक्रियिकयुगलच्छित्तिः ॥

अविरयएक्कारह तियचउक्कसाया पमत्तए णत्थि ।
अत्थि हु आहारदुगं हारदुगं णत्थि सत्तट्ठे ॥ १६ ॥

अविरत्यैकादश तृतीयचतुष्कषायाः प्रमत्तके न संति ।
अस्ति हि आहारद्विकं, आहारद्विकं नास्ति सप्तमे, अष्टमे ॥

छण्णोकसाय णवमे ण हि दसमे संढमहिलपुंवेयं ।
कोहो माणो माया ण हि लोहो णत्थि उवसमे खीणे ॥१७॥

---

१ अत्र सुखावबोधार्थं केशववर्णिनोक्तं गाथापंचकमुद्ध्रियते—

मिच्छे पणमिच्छत्तं, पढमकसायं तु सासणे, मिस्से ।
सुण्णं, अविरदसम्मे विदियकसायं विगुव्वदुगकम्मं ॥ १ ॥
ओरालमिस्स तसवह णवयं, देसम्मि अविरदेक्कारा ।
तदियकसायं पण्णर, पमत्तविरदम्मि हारदुग छेदो ॥ २ ॥
सुण्णं पमादरहिदे, पुव्वे छण्णोकसायवोच्छेदो, ।
अणियट्टिम्मि य कमसो एक्केक्कं वेदतियकसायतियं, ॥ ३ ॥
सुहमे सुहमो लोहो, सुण्णं उवसंतगेसु, खीणेसु ।
अलीयुभयवयणमणचउ, जोगिम्मि यं सुणह वोच्छामि ॥ ४ ॥
सच्चणुभायं वयणं मणं च ओरालकायजोगं च ।
ओरालमिस्सकम्मं उवयारेणेव सब्भावो, ॥ ५ ॥

षण्णोकषायाः, नवमे 'नहि'[1] दशमे षंढमहिलपुंवेदाः ।
क्रोधो मानो माया 'नहि'[2] लोभो, नास्ति[3] उपशमे, क्षीणे ॥

अलियमणवयणमुभयं णत्थि जिणे अत्थि सच्चमणुभयं ।
मिस्सोरालियकम्मं अपच्चयाऽजोगिणो होंति ॥ १८ ॥

अलीकमनोवचनं उभयं नास्ति[4], जिने अस्ति सत्यमनुभयं ।
मिश्रौदारिककार्मणा, अप्रत्यया अयोगिनो भवन्ति ॥

पच्चयसत्तावण्णा गणहरदेवेहिं अक्खिया सम्मं ।
ते चउबंधणिमित्ता बंधादो पंचसंसारे ॥ १९ ॥

प्रत्ययसप्तपंचाशत् गणधरदेवैः कथिताः सम्यक् ।
ते चतुर्बन्धनिमित्ताः बन्धतः पंचसंसारे ॥

पण[5]वण्णं पण्णासं तिदाल छादाल सत्ततीसा य ।
चउवीस दुवावीसं सोलसमेगूण जाव णव सत्ता ॥ २० ॥

पंचपंचाशत् पंचाशत् त्रिचत्वारिंशत् षट्चत्वारिंशत् सप्तत्रिंशच्च ।
चतुर्विंशतिः द्विद्वाविंशतिः षोडश एकोनं यावन्नव सप्त ॥

[6]दुग सग चदुरिगिदसयं वीसं तियपणदुसहियतीसं च ।
इगिसगअडअडदालं पण्णासा होंति सगवण्णा ॥ २१ ॥

१-२ व्युच्छिद्यते इत्यर्थः । ३ शून्यमित्यर्थः । ४ व्युच्छिद्यते इत्यर्थः ।
५ अत्रागमोक्तगाथाद्वयं यथा—

पणवण्णा पण्णासा तिदाल छादाल सत्ततीसा य ।
चदुवीसा वावीसा वावीसमपुव्वकरणोत्ति ॥ १ ॥
थूले सोलसपहुदी एगूणं जाव होदि दस ठाणं ।
सुहुमादिसु दस णवयं णवयं जोगिम्मि सत्तेव ॥ २ ॥

६ अत्र केशववर्णिनोक्तगाथा—

दोण्णि य सत्त य चोद्दसणुदये वि एयार वीस तेत्तीसं ।
पणतीस दुसिगिदालं सत्तेतालट्ठदाल दुसु पण्णं ॥ १ ॥

द्वौ सप्त चतुरेकदशकं विंशतिः त्रिकपंच-द्विसहितत्रिंशच्च ।
एकसप्ताष्टाष्टचत्वारिंशत् पंचाशत् भवन्ति सप्तपंचाशत् ॥

गुणस्थान-रचना ।

मि.	सा.	मि.	अ.	दे.	प्र.	अ.	अ.	अ.	२	३	४	५	६	सू.	उ.	क्षी.	स.	अ.
५	४	०	७	१५	२	०	६	१	१	१	१	१	१	१	०	४	७	०
५५	५०	४३	४६	३७	२४	२२	२२	१६	१५	१४	१३	१२	११	१०	९	९	७	०
२	७	१४	११	२०	३३	३५	३५	४१	४०	४३	४४	४५	४६	४७	४८	४८	५०	५७

तिसु तेरं दस मिस्से सत्तसु णव छट्टयम्मि एक्कारा ।
जोगिम्हि सत्तजोगा अजोगिठाणं हवे सुण्णं ॥ २२ ॥

त्रिषु त्रयोदश दश मिश्रे सप्तसु नव षष्ठे एकादश ।
योगिनि सप्तयोगा अयोगिस्थानं भवेच्छून्यं ॥

योग-रचना

मि.	सा.	मि.	अ.	दे.	प्र.	अ.	अ.	अ.	सू.	उ.	क्षी.	स.	अ.
१३	१३	१०	१३	९	११	९	९	९	९	९	९	७	०

दुसु दुसु पणइगिवीसं सत्तरसं देससंजदे तत्तो ।
तिसु तेरं णवमे सग सुहमेगं होंति हु कसाया ॥ २३ ॥

द्वयोः द्वयोः पंचैकविंशतिः सप्तदश-देशसंयते ततः ।
त्रिषु त्रयोदश नवमे सप्त सूक्ष्मे एकः भवन्ति हि कषायाः ॥

कषाय-रचना

मि.	सा.	मि.	अ.	दे.	प्र.	अ.	अ.	अ.	सू.
२५	२५	२१	२१	१७	१३	१३	१३	७	१

इति गुणस्थान-त्रिभंगी समाप्ता ।

१ प्रथमद्वितीयगुणस्थाने पंचविंशतिः । २ तृतीयचतुर्थगुणस्थाने एकविंशतिः इत्यर्थः ।

विजिदचउघाइकम्मे केवलणाणेण णादसयलत्थे ।
वीरजिणे वंदित्ता जहाकमं मग्गणासवं वोच्छे ॥ २४ ॥

विजितचतुर्घातिकर्माणं केवलज्ञानेन ज्ञातसकलार्थं ।
वीरजिनं वन्दित्वा यथाक्रमं मार्गणायामास्रवान् वक्ष्ये ॥

मिस्सतियकम्मणूणा पुण्णाणं पच्चया जहाजोगा ।
मणवयणचउ–सरीरत्तयरहिदा पुण्णगे होंति ॥ २५ ॥

मिश्रत्रिककार्मणोनाः पूर्णानां प्रत्यया यथायोग्यं: ।
मनोवचनचतुः-शरीरत्रयरहिता अपूर्णके भवन्ति ॥

इत्थीपुंवेददुगं हारोरालियदुगं च वज्जित्ता ।
णेरइयाणं पढमे इगिवण्णा पच्चया होंति ॥ २६ ॥

स्त्रीपुंवेदद्विकं आहरकौदारिकद्विकं[1] वर्जयित्वा ।
नारकाणां प्रथमे[2] एकपंचाशत्प्रत्यया भवन्ति ॥

विदियगुणे[3] णिरयगदिं ण यादि इदि तस्स णत्थि कम्मइयं ।
वेगुव्वियमिस्सं च दु ते होंति हु अविरदे ठाणे ॥ २७ ॥

द्वितीयगुणेन नरकगतिं न याति इति तस्य नास्ति कार्मणं ।
वैक्रियिकमिश्रं च तु तौ भवतो हि अविरते स्थाने ॥

सक्करपहुदिसु एवं अविरदठाणे ण होइ कम्मइयं ।
वेगुव्वियमिस्सो वि य तेसिं मिच्छेव वोच्छेदो ॥ २८ ॥

शर्कराप्रभृतिषु एवं, अविरतस्थाने न भवति कार्मणं ।
वैक्रियिकमिश्रमपि च तयोः मिथ्यात्वे एव व्युच्छेदः ॥

---

१ आहारद्विकं औदारिकद्विकं । २ गुणस्थाने ।

३ 'णहि सासणो अपुण्णे साहारणसुहुमगे य तेउदुगे' । इत्यागमे ।

प्रथमनरक-रचना				द्वितीयादिनरक-रचना			
मि.	सा.	मि.	अ.	मि.	सा.	मि.	अ.
५	४	०	८	५	४	०	६
५१	४४	४०	४२	५१	४४	४०	४०
०	७	११	९	०	७	११	११

वेगुव्वाहारदुगं ण होइ तिरियेसु सेसतेवण्णा ।
एवं भोगावणिजे संढ विरहिऊण त्रावण्णा ॥ २९ ॥

वैक्रियिकाहारद्विकं न भवति तिर्यक्षु शेपत्रिपंचाशत् ।
एवं भोगावनीजेषु षंढं विरह्य द्वापंचाशत् ॥

लद्धिअपुण्णतिरिक्खे हारदु मणवयण अट्ट ओरालं ।
वेगुव्वदुगं पुंवेदित्थीवेदं ण बादालं ॥ ३० ॥

लब्ध्यपूर्णतिर्यक्षु आहारकद्विकं मनवचनाष्टकं औदारिकं ।
वैक्रियिकद्विकं पुंवेदस्त्रीवेदौ न द्वाचत्वारिंशत् ॥

कर्मभूमितिर्यग्रचना					भोगभूमिजतिर्यग्र				लब्ध्यपर्याप्त
मि.	सा.	मि.	अ.	दे.	मि.	सा.	मि.	अ.	मि.
५	४	०	७	१५	५	४	०	७	०
५३	४८	४२	४४	३७	५२	४७	४१	४३	४२
०	५	११	९	१६	०	५	११	९	०

मणुवेसु ण वेगुव्वदु पणवण्णं संति तत्थ भोगेसु ।
हारदुसंढविवज्जिद दुवण्णऽपुण्णे अपुण्णे वा ॥३१॥

मनुजेषु न वैक्रियिकद्विकं पंचपंचाशत् सन्ति तत्र भोगेषु ।
आहारद्विकपंढविवर्जितं द्विपंचाशत् [1]अपूर्णे अपूर्णे इव ॥

---

1 लब्ध्यपर्याप्तमनुष्येषु लब्ध्यपर्याप्ततिर्यग्वज्ज्ञातव्यमित्यर्थः ।

मनुष्य–रचना ।

मि.	सा.	मि.	अ.	दे.	प्र.	अ.	अ.	अ.	२	३	४	५	६
५	४	०	५	१५	२	०	६	१	१	१	१	१	१
५३	४८	४२	४४	३७	२४	२२	२२	१६	१५	१४	१३	१२	११
२	७	१३	११	१८	३१	३३	३३	३९	४०	४१	४२	४३	४४

सू.	उ.	क्षी.	स.	अ.
१	०	४	७	०
१०	९	९	७	०
४५	४६	४६	४८	५५

भोगजमनुष्य–रचना ।

मि.	सा.	मि.	अ.
५	४	०	७
५२	४७	४१	४३
०	५	११	९

अ. र. ।

मि.
०
४२
०

देवे हारोरालिय[1]जुगलं संढं च णत्थि तत्थेव ।
देवाणं[2] देवीणं णेवित्थी णेव पुंवेदो ॥ ३२ ॥

देवेषु आहारकौदारिकयुगले षंढं च नास्ति तत्रैव ।
देवानां देवीनां नैव स्त्री नैव पुंवेदः ॥

भवणतिकप्पित्थीणं असंजदठाणे ण होइ कम्मइयं ।
वेगुव्वियमिस्सो वि य तेसिं पुणु सासणे छेदो ॥३३॥

भवनत्रिकल्पस्त्रीणां असंयतस्थाने न भवति कार्मणं ।
वैक्रियिकमिश्रमपि च तयोः पुनः सासादने व्युच्छेदः ॥

एवं उवरिं णवपणअणुदिसणुत्तरविमाणजादा जे ।
ते देवा पुणु सम्मा अविरदठाणुव्व णायव्वा ॥३४॥

एवं उपरि नवपंचानुदिशानुत्तरविमानजाता ये ।
ते देवाः पुनः सम्यक्त्वा अविरतस्थानवज्ज्ञातव्याः ॥

---

१ आहारकयुगलमौदारिकयुगलं च । २ देवानां स्त्रीवेदो नास्ति देवीनां च पुंवेदो नास्ति ।

भवनत्रि-कल्पस्त्री।				सौधर्मादि-ग्रैवेयकान्त।				अनुदिशानुत्तर
मि.	सा.	मि.	अ.	मि.	सा.	मि.	अ.	अ.
५	६	०	६	५	४	०	८	०
५२	४७	४१	४१	५१	४६	४०	४२	४२
०	५	११	११	०	५	११	९	०

इति गतिमार्गणा समाप्ता।

पुंवेदित्थिविगुव्वियहारदुमणरसणचदुहि एयक्खे।
मणचदुवयणचदूहि य रहिदा अडतीस ते भणिदा ॥३५॥

पुंवेदस्त्रीवैक्रियिकाहारकद्विकमनोरसनाचतुर्भिः[1] एकाक्षे।
मनचतुर्वचनचतुर्भिश्च रहिता अष्टात्रिंशत्ते भणिताः॥

एयक्खे जे उत्ता ते कमसो अंतभासरसणेहिं।
घाणेण य चक्खूहिं य जुत्ता वियलिंदिए णेया ॥३६॥

एकाक्षे ये उक्तास्ते क्रमशः अन्तेभापा[2]रसनाभ्यां।
घ्राणेन च चक्षुर्भ्यां च युक्ता विकलेन्द्रिये[3] ज्ञातव्याः॥

इगविगलिंदियजणिदे सासणठाणे ण होइ ओरालं।
इणमणुभयं च वयणं तेसिं मिच्छेव वोच्छेदो ॥३७॥

एकविकलेन्द्रियजाते सासादनस्थाने न भवति औदारिकं।
एषामनुभयं च वचनं तयोः मिथ्यात्वे एव व्युच्छेदः॥

एकेन्द्रिय-रचना।		द्वीन्द्रिय-र०।		त्रीन्द्रिय-र०।		चतुरिन्द्रिय र०	
मि.	सा.	मि.	सा.	मि.	सा.	मि.	सा.
६	४	७	४	७	४	७	४
३८	३२	४०	३३	४१	३४	४२	३५
०	६	०	७	०	७	०	७

१ मनोरसनाघ्राणचक्षुःश्रोत्राविरतिभिः। २ अनुभयभाषा। ३ द्वीन्द्रिये अनुभयवचनरसनेन्द्रियाभ्यां युक्ताः, त्रीन्द्रिये ताभ्यां सह घ्राणेन सहिताः चतुरिन्द्रिये तैःसह चक्षुरिन्द्रियेण युक्ताः।

पंचेंदियजीवाणं तसजीवाणं च पच्चया सव्वे ।
पुढवीआदिसु पंचसु एइंदिय कहिद अडतीसा ॥ ३८ ॥

पंचेन्द्रियजीवानां त्रसजीवानां च प्रत्ययाः सर्वे ।
पृथिव्यादिषु पंचसु एकेन्द्रिये कथिता अष्टात्रिंशत् ॥

[त्रसजीव–पंचेन्द्रियजीवरचना गुणस्थानवत् । पृथिव्यब्वनस्पतिकायरचना एकेन्द्रियकथितप्रथमद्वितीयगुणस्थानवत् । तेजोवातकाय–रचना (एकेन्द्रिय-कथित) प्रथमगुणस्थानवत् ।]

हारदुगं वज्जित्ता जोगाणं तेरसाणमेगेगं ।
जोगं पुणु पक्खित्ता तेदाला इदरयोगूणा ॥ ३९ ॥

आहारद्विकं वर्जयित्वा योगानां त्रयोदशानां एकैकं ।
योगं पुनः प्रक्षिप्य त्रिचत्वारिंशत् इतरयोगोनाः ॥

असत्योभयमनोवचन–रचना ।

मि.	सा.	मि.	अ.	दे.	प्र.	अ.	अ.	अ.	२	३	४	५	६	सू.	उ.	क्षी.
५	४	०	५	१५	०	०	६	१	१	१	१	१	१	१	०	१
४३	३८	३४	३४	२९	१४	१४	१४	८	७	६	५	४	३	२	१	१
०	५	९	९	१४	२९	२९	२९	३५	३६	३७	३८	३९	४०	४१	४२	४२

सत्यानुभयमनोवचनौदारिक–रचना ।

मि.	सा.	मि.	अ.	दे.	प्र.	अ.	अ.	अ.	२	३	४	५	६	सू.	उ.	क्षी.	स.
५	४	०	५	१५	०	०	६	१	१	१	१	१	१	१	०	०	१
४३	३८	३४	३४	२९	१४	१४	१४	८	७	६	५	४	३	२	१	१	१
०	५	९	९	१४	२९	२९	२९	३५	३६	३७	३८	३९	४०	४१	४२	४२	४२

ओरालमिस्स साणे संढत्थीणं च वोच्छिदी होदि ।
वेगुव्वमिस्स साणे इत्थीवेदस्स वोच्छेदो ॥ ४० ॥

औदारिकमिश्रस्य सासादने पंढस्त्रियोश्च व्युच्छित्तिः भवति ।
वैक्रियिकमिश्रस्य सासादने स्त्रीवेदस्य व्युच्छेदः ॥

तेसिं साणे संढं णत्थि हु सो होइ अविरदे ठाणे ।
कम्मइए विदियगुणे इत्थीवेदच्छिदी होइ ॥ ४१ ॥

तेषां सासादने पंढं नास्ति हु स भवति अविरते स्थाने ।
कार्मणे द्वितीयगुणे स्त्रीवेदच्छित्तिः भवति ॥

संजलणं पुवेयं हस्सादीणोकसायछक्कं च ।
णियएक्कजोग्गसहिया बारस आहारगे जुम्मे ॥ ४२ ॥

संज्वलनं पुंवेदं हास्यादिनोकषायषट्कं च ।
निजैकयोगसहिता द्वादश आहारके युग्मे ॥

पुंवेदे थीसंढं वज्जित्ता सेसपच्चया होंति ।
इत्थीवेदे हारदु पुंसंढं च वज्जिदा सव्वे ॥ ४३ ॥

पुंवेदे स्त्रीपंढाभ्यां वर्जिता शेषप्रत्यया भवन्ति ।
स्त्रीवेदे आहारद्विकेन पुंपंढाभ्यां च वर्जिता सर्वे ॥

औदारिकमिश्र-रचना। वैक्रियिक-रचना। तन्मिश्र-रचना। आहा०

मि.	सा.	अ.	स.	मि.	सा.	मि.	अ.	मि.	सा.	अ.	प्र.
५	६	३१	१	५	४	०	६	५	५	६	०
४३	३८	३२	१	४३	३८	३४	३४	४३	३७	३३	१२
०	५	११	४२	०	५	९	९	०	६	१०	०

कार्मण-रचना।

मि.	सा.	अ.	स.
५	५	३२	१
४३	३८	३३	१
०	५	१०	४२

पुंवेद-रचना।

मि.	सा.	मि.	अ.	दे.	प्र.	अ.	अ.	अ.	२	३
५	४	०	९	१५	२	०	६	०	०	१
५३	४८	४१	४४	३५	२२	२०	२०	१४	१४	१४
२	७	१४	११	२०	३३	३५	३५	४१	४१	४१

स्त्रीवेद–रचना ।

मि.	सा.	मि.	अ.	दे.	प्र.	अ.	अ.	अ.	२
५	७	०	६	१५	०	०	६	०	१
५३	४८	४१	४१	३५	२०	२०	२०	१४	१४
०	५	१२	१२	१८	३३	३३	३३	३९	३९

मिस्सदुकम्मइयच्छिदी सांणे संढे ण होइ पुरसिच्छी ।
हारदुगं विदियगुणे ओरालियमिस्स वोच्छेदो ॥ ४४ ॥

मिश्रद्विककार्मणच्छित्तिः सासादने, पंढे न भवतः पुरुषस्त्रियौ ।
आहारद्विकं द्वितीयगुणे औदारिकमिश्रस्य व्युच्छेदः ॥

तेसिं अवणिय वेगुव्वियमिस्स अविरदे हु णिक्खेवे ।
कोहचउक्के माणादिवारसहीण पणदाला ॥ ४५ ॥

तेषां अपनीय वैक्रियिकमिश्रं अविरते हि निक्षिपेत् ।
क्रोधचतुष्के मानादिद्वादशहीनाः पंचचत्वारिंशत् ॥

नपुंसकवेद–रचना ।

मि.	सा.	मि.	अ.	दे.	प्र.	अ.	अ.	अ.
५	५	०	८	१५	०	०	६	१
५३	४७	४१	४३	३५	२०	२०	२०	१४
०	६	१२	१०	१८	३३	३३	३३	३९

क्रोधचतुष्क–रचना ।

मि.	सा.	मि.	अ.	दे.	प्र.	अ.	अ.	अ.	२	३	४
५	१	०	६	१२	२	०	६	१	१	१	१
४३	३८	३४	३७	३१	२१	१९	१९	१३	१२	११	१०
२	७	११	८	१४	२४	२६	२६	३२	३३	३४	३५

१ स्त्रीवेदस्य सासादनगुणस्थाने ।

माणादितिये एवं इदरकसाएहिं विरहिदा जाणे ।
कुमदिकुसुदे ण विज्जदि हारदुगं होंति पणवण्णा ॥ ४६ ॥

मानादित्रिके एवं इतरकषायैः विरहितान् जानीहि ।
कुमतिकुश्रुतयोः न विद्यते आहारद्विकं भवन्ति पंचपंचाशत् ॥

वेभंगे बावण्णा कमणमिस्सदुगहारदुगहीणा ।
णाणतिये अडदालं पणमिच्छाचारिअणरहिदा ॥ ४७ ॥

विभंगे द्विपंचाशत् कार्मणमिश्रद्विकाहारद्विकहीनाः ।
ज्ञानत्रिके अष्टचत्वारिंशत् पंचमिथ्यात्वचतुरनरहिताः ॥

कुमतिकुश्रुत ।		विभंग ।	
मि.	सा.	मि.	सा.
५	४	५	४
५५	५०	५२	४७
०	५	०	५

सज्ज्ञानत्रय-रचना ।

अ.	दे.	प्र.	अ.	अ.	अ.	२	३	४	५	६	सू.	पु.	क्षी.
९	१५	२	०	६	१	१	१	१	१	१	१	०	४
४६	३७	२४	२२	२२	१६	१५	१४	१३	१२	११	१०	९	९
२	११	२४	२६	२६	३२	३३	३४	३५	३६	३७	३८	३९	३९

मणपज्जे संढित्थीवज्जिदसगणोकसाय संजलणं ।
आदिमणवजोगजुदा पच्चयवीसं मुणेयव्वा ॥ ४८ ॥

मनःपर्यये षंढस्त्रीवर्जितसप्तनोकषायाः संज्वलनाः ।
आदिमनवयोगयुक्ताः प्रत्ययविंशतिः ज्ञातव्या ॥

ओरालं तंमिस्सं कम्मइयं सच्चअणुभयाणं च ।
मणवयणाण चउक्के केवलणाणे सगं जाणे ॥ ४९ ॥

औदारिकं तन्मिश्रं कार्मणं सत्यानुभयानां च ।

मनोवचनानां चतुष्कं केवलज्ञाने सप्त जानीहि ॥

मनःपर्यय–रचना ।

प्र.	अ.	अ.	अ.	२	३	४	५	६	सू.	उ.	क्षी.
०	०	६	०	०	१	१	१	१	१	०	४
२०	२०	२०	१४	१४	१४	१३	१२	११	१०	९	९
०	०	०	६	६	६	७	८	९	१०	११	११

कवलज्ञाने–रचना ।

स.	अ.
७	०
७	०
०	७

अडमणवयणोरालं हारदुगं णोकसाय संजलणं ।
सामाइयछेदेसु य चउवीसा पच्चया होंति ॥ ५० ॥

अष्टमनोवचनौदारिका आहारद्विकं नोकषायाः सजलनाः ।

सामायिकच्छेदयोश्च चतुर्विंशतिः प्रत्यया भवन्ति ॥

विंसदि परिहारे संढित्थीहारदुगवज्जिया एदे ।
सुहुमे णवआदिमजोगा संजलणलोहजुदा ॥ ५१ ॥

विंशतिः परिहारे षंढस्त्री-आहारद्विकवर्जिता एते ।

सूक्ष्मे नवादिमयोगा संज्वलनलोभयुताः ॥

एदे पुण जहखादे कम्मणओरालमिस्ससंजुत्ता ।
संजलणलोहहीणा एगादसपच्चया णेया ॥ ५२ ॥

एते पुनः यथाख्याते कार्मणौदारिकमिश्रसंयुक्ताः ।

संज्वलनलोभहीना एकादशप्रत्यया ज्ञेयाः ॥

तसऽसंजमवज्जिता सेसऽजमा णोकसाय देसजमे ।
अट्ठंतिल्लकसाया आदिमणवजोग सगतीसा ॥ ५३ ॥

त्रसासंयमवर्जिताः शेषायमा नोकषाया देशयमे ।

अष्टौ अन्तिमकषाया आदिमनवयोगाः सप्तत्रिंशत ॥

आहारयदुगरहिया पणवण्ण असंजमे दु चक्खुदुगे ।
सव्वे णाणतिकहिदा अडदाला ओहिदंसणे णेया ॥ ५४ ॥

आहारकद्विकरहिताः पंचपंचाशदसंयमे तु, चक्षुर्द्विके।
सर्वे, ज्ञानत्रिककथिता अष्टचत्वारिंशत् अवधिदर्शने ज्ञेयाः ॥

सामायिक–छेदोपस्थापना । परिहार । सूक्ष्मसांपराय ।

प्र.	अ.	अ.	अ.	२	३	४	५	६	प्र.	अ.	सू.
२	०	६	१	१	१	१	१	१	०	०	०
२४	२२	२२	१६	१५	१४	१३	१२	११	२०	२०	१०
०	२	२	८	९	१०	११	१२	१३	०	०	०

यथाख्यात चरित्र । देशसंयम । असंयम–रचना ।

उ.	क्षी.	स.	अ.	दे.	मि.	सा.	मि.	अ.
०	४	७	०	०	५	४	०	९
९	९	७	०	३७	५५	५०	४३	४६
२	२	४	११	०	०	५	१२	९

चक्षुरचक्षुदर्शन ।

मि.	सा.	मि.	अ.	दे.	प्र.	अ.	अ.	अ.	२	३	४	५	६	सू.	उ.	क्षी.
५	४	०	९	१५	२	०	६	१	१	१	१	१	१	१	०	४
५५	५०	४३	४६	३७	२४	२२	२२	१६	१५	१४	१३	१२	११	१०	९	९
२	७	१४	११	२०	३३	३५	३५	४१	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४८	४८

[अवधिदर्शन–रचना–अवधिज्ञानवत् ।]

सगजोगपच्चया खलु केवलणाणव्व केवलालोए ।
किण्हतिए पणवण्णं हारदुगं वज्जिऊण हवे ॥ ५५ ॥

सत्तयोगप्रत्ययाः खलु केवलज्ञानवत् केवलालोके ।
कृष्णत्रिके पंचपंचाशत् आहारद्विकं वर्जयित्वा भवेत् ॥

किण्हदुसाणे वेगुव्वियमिस्सछिदी हवेइ तेउतिए ।
मिच्छदुठाणे ओरालियमिस्सो णत्थि अविरदे अत्थि ॥५६॥

कृष्णद्विकसासादने वैक्रियिकमिश्रच्छित्तिः भवेत् तेजस्त्रिके ।
मिथ्यात्वद्विस्थाने औदारिकमिश्रं नास्ति अविरतेऽस्ति ॥

[केवलदर्शन–रचना केवलज्ञानवत् ।]

कृष्णनील–रचना ।

मि.	सा.	मि.	अ.
५	५	०	८
५५	५०	४३	४५
०	५	१२	१०

कापोतरचना ।

मि.	सा.	मि.	अ.
५	४	०	९
५०	५५	४३	४६
०	५	१२	९

पीतपद्म–रचना ।

मि.	सा.	मि.	अ.	दे.	प्र.	अ.
५	४	०	९	१५	२	०
५४	४९	४३	४६	३७	२४	२२
३	८	१४	११	२०	३३	३५

सुहलेस्सतिये भव्वे सव्वेऽभव्वे ण होदि हारदुगं ।
पणवण्णुवसमसम्मे ते मिच्छोरालमिस्सअणरहिदा ॥ ५७ ॥

शुभलेश्यात्रिके भव्ये सर्वे अभव्ये न भवात्याहारद्विकं ।
पंचपंचाशदुपशमसम्यक्त्वे ते मिथ्यात्वौदारिकामिश्रानरहिताः ॥

[शुक्ललेश्या–भव्यमार्गणा–रचना गुणस्थानवत्]

उपशमसम्यक्त्व–रचना ।

अ.	दे.	प्र.	अ.	अ.	अ.	२	३	४	५	६	स.	उ.
८	१५	०	०	६	१	१	१	१	१	१	१	०
४५	३७	२२	२२	२२	१६	१५	१४	१३	१२	११	१०	९
०	८	२३	२३	२३	२९	३०	३१	३२	३३	३४	३५	३६

एदे वेदगखइए हारदुओरालमिस्ससंजुत्ता ।
मिच्छे सासण मिस्से सगगुणठाणव्व णायव्वा ॥ ५८ ॥

एते वेदकक्षायिकयोः आहारद्विकौदारिकमिश्रसंयुक्ताः ।
मिथ्यात्वे सासादने मिश्रे स्वकगुणस्थानवज्ज्ञातव्या ॥

वेदक–सम्यक्त्व ।					मिथ्या, सासा, मिश्र ।		
अ.	दे.	प्र.	अ.		मि.	सा.	मि.
९	१५	२	०	[क्षायिक–रचना गुणस्थानवत् ।]	०	०	०
४६	३७	२४	२२		५५	५०	४३
२	११	२४	२६		०	०	०

सण्णिस्स होंति सयला वेगुव्वाहारदुगमसण्णिस्स ।
चदुमणमादितिवयणं अणिंदियं णत्थि पणदाला ॥ ५९ ॥

संज्ञिनः भवन्ति सकला वैक्रियिकाहरद्विकमसंज्ञिनः ।
चतुर्मनांसि आदित्रिवचनानि अनिन्द्रियं न संति पंचचत्वारिंशत् ॥

संज्ञि–रचना ।

मि.	सा.	मि.	अ.	दे.	प्र.	अ.	अ.	अ.	२	३	४	५	६	स.	उ.	क्षी.
५	४	०	९	१५	२	०	६	१	१	१	१	१	१	१	०	४
५५	५०	४३	४६	३७	२४	२२	२२	१६	१५	१४	१३	१२	११	१०	९	९
२	७	१४	११	२०	३३	३५	३५	४१	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४८	४८

असंज्ञि–रचना ।

मि.	सा.
८	४
४५	३८
०	७

कम्मइयं वज्जित्ता छपण्णासा हवंति आहारे ।
तेदाला णाहारे कम्मइयरजोगपरिहीणा[1] ॥ ६० ॥

कार्मणं वर्जयित्वा षट्पंचाशद्भवन्त्याहारे ।
त्रिचत्वारिंशदनाहारे कार्मणेतरयोगपरिहीनाः ॥

१ कार्मणं विहाय इतरैः चतुर्दशयोगैर्हीना इत्यर्थः ।

आहारक–रचना ।

मि.	सा.	मि.	अ.	दे.	प्र.	अ.	अ.	अ.	२	३	४	५	६	स.	उ.	क्षी.	स.
५	४	०	७	१५	२	०	६	१	१	१	१	१	१	१	०	४	६
५४	४९	४३	४५	३७	२४	२२	२२	१६	१५	१४	१३	१२	११	१०	९	९	६
२	७	१३	११	१९	३२	३४	३४	४०	४१	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४७	५०

अनाहारक–रचना ।

मि.	सा.	अ.	स.
५	६	३२	१
४३	३८	३३	१
०	५	१०	४२

इदि मग्गणासु जोगो पच्चयभेदो मया समासेण ।
कहिदो सुदमुणिणा जो भावइ सो जाइ अप्पसुहं ॥ ६१ ॥

इति मार्गणासु योग्यः प्रत्ययभेदो मया समासेन ।
कथितः श्रुतमुनिना यो भावयति स याति आत्मसुखं ॥

पयकमलजुयलविणमियविणेयजणकयसुपूयमाहप्पो ।
णिज्जियमयणपहावो सो वालिंदो चिरं जयऊ ॥ ६२ ॥

पदकमलयुगलविनतविनेयजनकृतसुपूजामाहात्म्यः ।
निर्जितमदनप्रभावः स बालेन्द्रः चिरं जयतु ॥

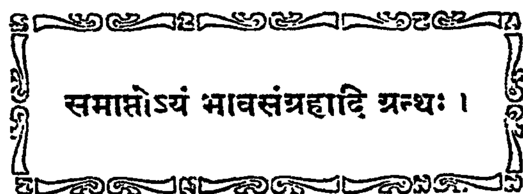
इति मार्गणास्रव-त्रिभंगी ।

---

*इति श्री-श्रुतमुनि-विरचितास्रव-त्रिभंगी समाप्ता ।

---

* पुष्पांकितः पाठः पुस्तके नास्ति ।


समाप्तोऽयं भावसंग्रहादि ग्रन्थः ।

प्राकृत-भावसंग्रहस्य वर्णानुक्रमणिका।



इति गाथा–सूची।

संस्कृतभावसंग्रहस्याकाराद्यनुक्रमणिका।

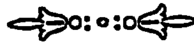


समाप्तेयमनुक्रमणिका ।

उद्धृतवचनानां सूची ।

समाप्तेयं सूची ।

शुद्ध्यशुद्धिपत्रम् ।



अशुद्धयः	शुद्धयः	पंक्तिः	पृष्ठम्
सुरसन	सुरसेन	३	१
शौच	शौचं	१३	६
प्रमत्ता	प्रमत्ताः	१	८
स्नान्त अपि	स्नान्तोऽपि	२	८
दिवलोकं	द्युलोकं	६	६
भ्रमिष्यन्ति	भ्रमंति	१२	७
आत्मना	आत्मा	४	११
तल्प्यमानः	तातल्प्यमानः	६	१३
तु	तो तु	६	४४
गव्वुव्वुढा	गव्वुव्वूढा	९	१७
संसय	संसयं	१०	२४
इत्थि	इत्थी	९	२७
कंटयभग्गो	कंटय भग्गो	१७	३१
कंटकलग्नं	कंटकं लग्नं	१९	३१
५	२	५	३९
६	३	१०	३९
निर्वृत्तेन	निवृत्तेन	४	४०
जुअसमिला संजोए	जुअसमिलासंजोए	१२	४१
पंचभूयाणणासे	पंचभूयाण णासे	१०	४२

---

१ चडप्फडन् इति वा। अस्यार्थः—आकुलव्याकुलः सन्। तडफडाना इति भाषायां।

२ युगसमिलासंयोगे। अस्यायं भावः—पूर्वलवणे युगं निक्षिप्तं, पश्चिमलवणे समिला निक्षिप्ता तस्याः समिलायाः युगविवरे प्रवेशो यथा दुर्लभः तथा जीवस्य चतुरशीतियोनिलक्षमध्ये मनुष्यत्वं दुर्लभमेवेति।

अशुद्धयः	शुद्धयः	पंक्तिः	पृष्ठम्
उपरि स्पृशित्वा	उदरे कृत्वा	९	४९
खरशीर्ष	खरशीर्षः	१	५१
तस्योत्पन्नः	तयोरुत्पन्नः	९	५१
सउअरो	सउअरे (इत्यनेन भाव्यं)	१३	५३
स्पर्शित्वा शूकरं	कृत्वा स्वोदरे	१५	५३
उपरिस्थितः त्रिजगतः	उदरस्थं त्रिजगत्	५	५४
...बहिः	उदरबहिः	१३	५४
तस्योपरि	तस्योदरे	७	५५
जामता	जाम ता	३	५८
यावत्	यावत्तावत्	५	५८
बलत्वेन	वत्सेन	६	५८
गौरिभिः	गौरीभिः	१३	५९
इसरु	ईसरु	१०	५९
नाम्नामेव	नामा एव	७	७८
दड्ढ	दड्ढं	१३	९६
क्षिपेतु	क्षिपेत्	११	९६
जहणीरं	जह णीरं	२१	१०८
इत्यविरत	इति देशविरत	२१	१२६
देसणं	दंसणं	१	१४३
यच्छेय	यच्छ्रेय	१०	१४९
ह्यौपशमो	ह्युपशमो	१३	१४९
व्राह्मणा	व्राह्मणो	१८	१५२
च्छुाद्ध	च्छुद्धिं	१७	१५३
पि णां	पितॄणां	८	१५४
प्रशाक्ता	प्रसक्ता	७	१५६
निहता	निहताः	१५	१५७
बन्ध्यते	बध्यते	२०	१२८

अशुद्धयः	शुद्धयः	पंक्तिः	पृष्ठम्
भ्रमन्तोऽसौ	भ्रमन्नसौ (इत्यनेन भाव्यं)	१९	१५९
वन्धाः	वन्ध्याः	४	१६६
गता	गताः	१३	१६६
साराष्ट्रां	सौराष्ट्रां	२७	१६८
लिंग	लिंगं	२०	१७३
दनागारा	दनगारा	१८	१७६
लक्षणः	लक्षणो	१७	१८८
६६४	३६४	२१	१८५
वेश्या पराङ्गना चौर्यं	वेश्यापराङ्गनाचौर्यं	१२	१९४
सत्पच	सत्पंचं	१८	१९८
अधिकापाक	अधिका पाक	१०	२०१
आर्तैराद्रं	आर्त्तरौद्रं	१६	२०४
(ति)	०	४	२०४
सजम	संजम	१७	२१८
पद्ममधुकरः	पद्मप्रकरमधुकरः	१४	२८८
चदुतिगदुग	चदुदुगतिग	३	२३७
पुवेदे	पुंवेदे	५	२४६
८	२८	अनि०	२५४
बालेन्द्रः	बालेन्दुः	१८	२८३